जैन जगत् की महिलाएँ



जिनका उज्ज्वल चरित, धरित्रीतल पर बिखर चुका है ।
अग्नि-परीक्षा में सतीत्व, सोने-सा निखर चुका है ॥
उन्हीं देवियों के जीवन की, झलक एक लासानी ।
नारी-जग की स्फूर्ति दायिनी, उनकी अमर कहानी ॥

लेखक—
मुनि प्यारचन्द

जैन जगत् की महिलाएँ

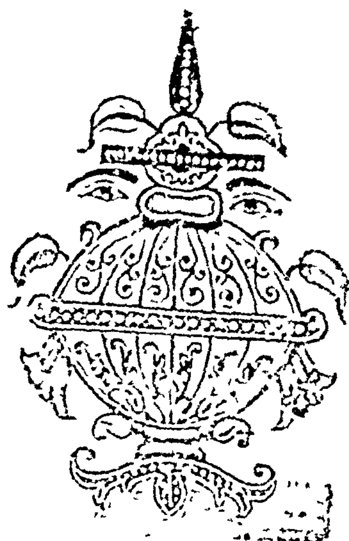


लेखक—

जैन-दिवाकर प्रसिद्धवक्ता पंडित मुनि श्री चौथमलजी
महाराज के सुशिष्य साहित्य-रत्न गणिवर्य
पंडित मुनि श्री प्यारचन्दजी महाराज।

प्रकाशक—
धर्म-प्रेमी श्री पुनमचंदजी महता
फर्म गुलराजजी पुनमचंदजी, मदनगंज [किशनगढ़]

प्रथमावृत्ति } मूल्य अनुकरण { वीराब्द २४७४
५०० } { विक्रमाब्द १९९६



मुद्रक:—
श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम।

॥ अभिनन्दन ॥

ब्राह्मी चंदनबालिका भगवती,
राजीमती द्रौपदी ।
कौशल्या च मृगावती च सुलसा,
सीता सुभद्रा शिवा ।
कुंती शीलवती नलस्य दयिता,
चूला प्रभावत्यपि ।
पद्मावत्यपि सुंदरी प्रतिदिनम्,
कुर्वन्तु वो मंगलम् ॥

विषय-सूची



श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति,
रतलाम

के

जन्म दाता

श्रीमान् जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता पंडित
मुनि श्री चौथमलजी महाराज

स्तम्भ

श्रीमान् दानवीर रायबहादुर सेठ कुदनमलजी
लालचन्दजी सा० ब्यावर

,, सेठ नेमीचन्दजी सरदारमलजी सा० नागपुर

,, ,, सरूपचन्दजी भागचन्दजी सा० कलमसरा

,, ,,पुनमचन्दजी चुन्नीलालजी सा० न्यायडोंगरी

,, ,, बहादरमलजी सूरजमलजी सा० यादगिरी

,, ,, तपतमलजी सौभागमलजी सा० जावरा

संरक्षक

,, ,, प्रेमलजी लालचन्दजी सा० गुलेदगढ

,, ,, लाला रतनलालजी सा० मित्तल आगरा

,, ,, उदेचन्दजी छोटमलजी सा० उज्जैन

,, ,, छोटेलालजी जेठमलजी सा० कनरा

,, ,, मोतीलालजी सा० जैन वैद मॉगरोल

,, ,, सूरजमलजी साहेब भवानीगंज

,, वकील रतनलालजी सा० सर्राफ उदयपुर

श्रीमान् सेठ कालूरामजी सा० कोठारी	ब्यावर
,, ,, कुंदनमलजी सरूपचन्दजी सा०	ब्यावर
,, ,, देवराजजी सा० सुराना	ब्यावर
,, ,, नाथूलालजी छगनलालजी सा०	मल्हारगढ़
,, ,, ताराचन्दजी डाह्जी पुनमिया	सादड़ी
श्री महावीर जैन नवयुवक मंडल,	चित्तौड़गढ़
श्री श्वे० स्था० श्रीसंघ,	बड़ीसादड़ी (मेवाड़)
श्रीमती पिस्ताबाई, लोहामन्डी	आगरा
,, राजीबाई, बरारा	सी० पी०
,, अनारबाई, लोहामंडी	आगरा
,, चन्द्रपतिबाई	सब्जी मंडी, देहली
श्रीमान् मोहनलालजी सा० वकील	उदयपुर
श्रीमान् सेठ मिश्रीलालजी नाथूलालजी सा०	कोटा
,, ,, लखमीचन्दजी संतोकचन्दजी सा०	मुरार
,, ,, चम्पालालजी सा० अलीजार	ब्यावर
,, ,, नेमीचन्दजी शीकरचन्दजी सा०	शिवपुरी
,, ,, फूलचंदजी सा० जैन	कानपुर
,, ,, पृथ्वीराजजी दुधेड़िया	धूलिया
. ,, इन्दरमलजी जैन	हाथरस
,, , गुलराजजी पूनमचन्दजी	किशनगढ़
,, ,, नवलरामजी गोकुलचन्दजी	लासाणी (मेवाड़)

* ॐ नम *

भूमिका

हम बड़े गौरव के साथ अपनी प्राचीनतम् आर्य सभ्यता के गीत गाते है। और हम ही क्यों, सारा ससार एक स्वरसे हमारी सभ्यता की प्रशसा करता है। पर कितने महानुभाव है जो उस समुन्नत सस्कृति के मर्म तक पहुँचने का प्रयास करते है? कितनों ने उसकी श्रेष्ठता के मूल आधार को समझने का प्रयत्न किया है? यह निश्चित है कि जब तक हम अपनी सभ्यता की उत्तमता के कारणों को भली भाति न जान लें तब तक लाख सरपटकने पर भी उसे पुनरवर्तीण नहीं कर सकते। इसके साथ ही दावे के साथ यह कहा जा सकता है कि जब तक प्राचीन आर्य-सस्कृति की पुन प्राणप्रतिष्ठा न होगी तब तक ससार सतयुग के स्वप्न भले ही देख ले परन्तु उस में प्रवेश करने का उसे अधिकार नहीं मिल सकता।

विज्ञान के आधुनिक आविष्कारों से आज विभिन्न और दूरवर्ती राष्ट्र एकमेक हो गये है। उनकी घनिष्ठता इतनी बढ गई और अधिकाधिक बढती जाती है कि एक की चाल ढाल, रीति-रिवाज, विचार धारा और रहन-सहन का दूसरे पर प्रभाव पढना अनिवार्य है। इसलिए आज भारतीय सस्कृति में अनेक प्रकार के सम्मिश्रण हो गये है। हमारी विचार-धारा में भी ऐसा परिवर्त्तन हो गया है कि उन सम्मिश्रणों को बिना गहन् विचार किये ही हमने आशीर्वाद के रूप में स्वीकार कर लिया है। 'लोको हि अभिनवप्रिय' इस कहावत के अनुसार नयी-नयी बातें स्वभावत आकर्षक होती है यही उस निर्वि-

चार स्वीकार का कारण है। इन सब कारणों से हमें अपनी संस्कृति की वास्तविकता का पता लगाना भी अत्यन्त दुष्कर हो गया है।

यही नहीं, ज्यों-ज्यों काल व्यतीत होता गया त्यों-त्यों देश और काल के प्रभाव से संस्कृति में थोड़ा-थोड़ा परिवर्त्तन होता गया है। उस परिवर्त्तन का योग विचार करने पर बहुत विशाल मालूम होता है।

मेरा ख़याल है, आर्य सभ्यता की उत्तमता और उन्नति का बहुत कुछ आधार नारी-प्रतिष्ठा है। यद्यपि मध्य-काल में पहले की-सी नारियों की प्रतिष्ठा दृष्टि गोचर नहीं होती, उस में नारी को अपने समुन्नत आसन से गिराने की चेष्टा नजर आती है, फिर भी आदि में उसका बहुत ऊँचा स्थान रहा है। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" यह वाक्य जिस ने लिखा है वह बेशक समाज-शास्त्र का बड़ा गंभीर ज्ञाता था। सचमुच जहां नारी की प्रतिष्ठा है, वहीं देवता—दिव्य शक्ति-सम्पन्न पुरुष रमण करते हैं—आनन्द-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं। वास्तव में नारी, पुरुष की जननी है, मानव-समाज की 'शक्ति' है। वह नन्दन-कानन का सुरभि सम्पूर्ण सुमन ही नहीं है, दुनिया की इस भीषण मरुस्थली में कल-कल नाद करने वाली और शीतल सुधामय सलिल प्रवाहित करने वाली सरिता भी है। उसकी कोमलता में कठोरता और कठोरता में कोमलता छिपी है। वह 'काली' है, 'महाकाली' है साथ ही 'कल्याणी' और 'वरदानी' है। वह संसार में वात्सल्य, दया, क्षमा आदि सुकुमार भावों का प्रतिनिधित्व करने वाली सत्ता है। उसकी प्रतिष्ठा में ही संसार की प्रतिष्ठा है। वही तीर्थंकरों की जननी है, अवतारों की माता है, पैगम्बरों की प्रसविनी है। उसकी वात्सल्य-सुधा-सिक्त हृदय-रस का

पान करके ही महापुरुष चैतन्य-लाभ करते हैं। नारी का मातृत्व ही हमारे निष्प्राण शरीर में प्राणों की चेतना का सचार करता है। जननी अपनी फूल सी सुकुमार भावनाओं की मूर्ति का निर्माण करती है और वह मूर्ति विश्व में शाति का प्रतिनिधित्व करती है समस्त मानव समाज मे उसकी अखण्ड सत्ता व्याप्त है। वह एक हो कर भी अनेक है, एक रूप हो कर भी अनेक रूप है। यह जननी है, जिसके सहारे विश्व टिका हुआ है।

नारी यह रूप काव्य की कल्पना नहीं, वास्तविकता है। इससे हम समझ सकेंगे कि जो देश,जो जाति और जो समाज नारी की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखता है उसी की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रह सकती है। जिसने उसकी प्रतिष्ठा को भग करने का प्रयास किया वह भग हुए बिना न रहेगा। आर्य जाति के सर्व श्रेष्ठ अभ्युदय का स्वर्ण समय नारी-प्रतिष्ठा का सुवर्ण-युग था। धीरे-धीरे ज्यों ज्यों नारी का आसन नीचे खिसकता गया त्यों-त्यों आर्य-जाति भी अवनति के गहरे गर्त की ओर अग्रसर होती गई। एक समय आया तब पुरुष वर्ग ने एक प्रकार की लूट-मार सी मचा दी। नारी के वैध अधिकारों का अपहरण कर पुरुष वर्ग ने अपना एकाधिपत्य स्थापित किया। जहां सभ्यता के प्रात काल में श्री ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियों को, पुत्रों से भी पहले शिक्षा देकर एक विशेष अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया था, वहा उनकी सतान परम्परा ने नारी को शास्त्र पढ़ने तक का निषेध कर दिया! 'न स्त्री शूद्रौ वेदमधीयाताम्' का विधान हुआ! इस विधान बीज से जो विशाल वट-वृक्ष उत्पन्न हुआ, उसकी छाया में बैठकर हम ने सोचा—एक घर में दो कलम नहीं चल सकती।

इस प्रकार जब शक्ति की लाछना और अवगणना हुई तो

उसका जो फल होना चाहिये था वही हुआ। नारी 'अबला' हो गई तो हम सबल कैसे रह सकते थे? 'शक्ति' को कुचल कर हम सशक्त हो ही नहीं सकते। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' अर्थात् स्त्री स्वतन्त्रता की अधिकारिणी नहीं है, इस विचित्र विधान ने जैसे ही नारी की स्वाधीनता का अपहरण किया कि हम भी अपनी स्वाधीनता से हाथ धो बैठे। नारी को हमने 'खिलौना' बनाया और हम दूसरों के खिलौने बन गये।

यह सब हमारे विधानों का प्राकृतिक प्रतिविधान है। इस में न कोई आश्चर्य की बात है और न अस्वाभाविक ही।

अब हम लोगों में से बहुत से इस तथ्य को समझने-से लगे हैं। नारी-जाति भी जैसे जागृत हो गई है। उसकी मूर्छा भंग हो रही है बीसवीं शताब्दी के विद्युत्व-प्रकाश में वह अपना रूप देखने का प्रयत्न कर रही है। वह उठ कर दुनिया के साथ दौड़ना चाहती है। दुनिया जिस ओर जा रही है उसी ओर वह बढ़ना चाहती है। पर क्या यह भयंकर नहीं है? दुनिया विनाश की ओर अग्रसर हो रही है और नारी-जाति बिना कुछ सोचे-समझे, अन्धाधुन्ध उसी का अनुसरण कर रही है!

हम चाहते हैं, नारी-जाति अपना मुंह फेर ले पीछे की ओर, और दुनिया को अपने पीछे-पीछे चलने का आदेश दे। जहां वह स्वर्णमय अतीत है हमारी यात्रा वहां पूरी हो और फिर नये सिरे से संसार का निर्माण हो। उस संसार में आज की उच्छृंखलता के स्थान पर स्वतन्त्रता विराजमान हो। वहां अधिकारों के लिए संघर्ष हो, पर अधिकार पाने के लिए नहीं वरन् देने के लिए। वहां ग्रहण न हो, अर्पण हो। आदान नहीं, प्रदान हो। और यह सब एक ओर से नहीं, दोनों ओर से। नर पति, स्वामी और मालिक रहे और नारी पत्नी, स्वामिनी और मालकिन हो। इस प्रकार आर्यावर्त में फिर नारी की

प्रतिष्ठा हो और 'देवता' रमण करें।

यह सुनहरा संसार बसाने के लिए भगीरथ प्रयत्न की आवश्यकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए हमें अपने विकृत संस्कारों को तिलाञ्जलि देनी होगी। जीवन व्यवहार बदलने होंगे। अपने प्राचीन साहित्य को उथलना होगा और उसे नये संस्करणों के साथ प्रकाश में लाना होगा। इसके साथ ही, नारी-जाति के सामने प्राचीन नारियों के आदर्श उपस्थित करने होंगे।

अभी तक इस ओर बहुत कम प्रयत्न हुआ है। इस प्रयत्न को विशेष रूप से आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। प्रस्तुत पुस्तक 'जैन जगत् की महिलाएँ' लिखकर साहित्य रत्न मुनिश्री प्यारचंदजी ने इस पुण्य-प्रयास में सराहनीय सहयोग दिया है, अतएव वे अवश्य ही अभिनन्दन के पात्र हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में जिन महासतियो का परिचय दिया गया है, उनमें से अधिकांश अजैन समाजमें भी इसी प्रकार प्रसिद्ध हैं और उनका बड़े आदर के साथ स्मरण किया जाता है। जैन समाज में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा है। बहुत से भक्त जन आज भी प्रात:काल उनका मंगल-स्मरण करके अपने को कृत कृत्य मानते हैं।

पुस्तक में वर्णित चरितो से एक बात स्पष्ट मालूम होती है। यह महासतिया अपने जीवन के अन्त मे गृहस्थावस्था की झंझटों से छुट्टी पाकर दीक्षा ग्रहण करती है और परम निश्रेयस की प्राप्ति के लिए कठोर साधना में अपना जीवन उत्सर्ग कर देती है। इसके दो कारण हैं–

(१) प्रस्तुत पुस्तक में ऐसी ही नारियों का चरित चित्रित किया गया है जिन्होंने अन्त में दीक्षा ग्रहण की थी। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि स्त्रियों का स्थान घर

उसका जो फल होना चाहिये था वही हुआ। नारी 'अबला' हो गई तो हम सबल कैसे रह सकते थे? 'शक्ति' को कुचल कर हम सशक्त हो ही नहीं सकते। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' अर्थात् स्त्री स्वतन्त्रता की अधिकारिणी नहीं है, इस विचित्र विधान ने जैसे ही नारी की स्वाधीनता का अपहरण किया कि हम भी अपनी स्वाधीनता से हाथ धो बैठे। नारी को हमने 'खिलौना' बनाया और हम दूसरों के खिलौने बन गये।

यह सब हमारे विधानों का प्राकृतिक प्रतिविधान है। इस में न कोई आश्चर्य की बात है और न अस्वाभाविक ही।

अब हम लोगों में से बहुत से इस तथ्य को समझने-से लगे हैं। नारी-जाति भी जैसे जागृत हो गई है। उसकी मूर्छा भंग हो रही है बीसवीं शताब्दी के विद्युत्व-प्रकाश में वह अपना रूप देखने का प्रयत्न कर रही है। वह उठ कर दुनिया के साथ दौड़ना चाहती है। दुनिया जिस ओर जा रही है उसी ओर वह बढ़ना चाहती है। पर क्या यह भयंकर नहीं है? दुनिया विनाश की ओर अग्रसर हो रही है और नारी-जाति बिना कुछ सोचे-समझे, अन्धाधुन्ध उसी का अनुसरण कर रही है!

हम चाहते हैं, नारी-जाति अपना मुंह फेर ले पीछे की ओर, और दुनिया को अपने पीछे-पीछे चलने का आदेश दे। जहां वह स्वर्णमय अतीत है हमारी यात्रा वहां पूरी हो और फिर नये सिरे से संसार का निर्माण हो। उस संसार में आज की उच्छृंखलता के स्थान पर स्वतन्त्रता विराजमान हो। वहां अधिकारों के लिए संघर्ष हो, पर अधिकार पाने के लिए नहीं वरन् देने के लिए। वहां ग्रहण न हो, अर्पण हो। आदान नहीं, प्रदान हो। और यह सब एक ओर से नहीं, दोनों ओर से। नर पति, स्वामी और मालिक रहे और नारी पत्नी, स्वामिनी और मालकिन हो। इस प्रकार आर्यावर्त में फिर नारी की

प्रतिष्ठा हो और 'देवता' रमण करे।

यह सुनहरा ससार बसाने के लिए भगीरथ प्रयत्न की आवश्यकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए हमे अपने विकृत सस्कारो को तिलाजलि देनी होगी। जीवन-व्यवहार बदलने होगे। अपने प्राचीन साहित्य को उथलना होगा और उसे नये संस्करणो के साथ प्रकाश मे लाना होगा। इसके साथ ही, नारी-जाति के सामने प्राचीन नारियो के आदर्श उपस्थित करने होगे।

अभी तक इस ओर बहुत कम प्रयत्न हुआ है। इस प्रयत्न को विशेष रूप से आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। प्रस्तुत पुस्तक 'जैन जगत् की महिलाएँ' लिखकर साहित्य रत्न मुनिश्री प्यारचंदजी ने इस पुण्य प्रयास मे सराहनीय सहयोग दिया है, अतएव वे अवश्य ही अभिनन्दन के पात्र है।

प्रस्तुत पुस्तक मे जिन महासतियो का परिचय दिया गया है, उनमें से अधिकाश अजैन समाजमें भी इसी प्रकार प्रसिद्ध है और उनका बडे आदर के साथ स्मरण किया जाता है। जैन समाज में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा है। बहुत से भक्त जन आज भी प्रात काल उनका मगल-स्मरण करके अपने को कृत कृत्य मानते है।

पुस्तक में वर्णित चरितो से एक बात स्पष्ट मालूम होती है। यह महासतिया अपने जीवन के अन्त में गृहस्थावस्था की झंझटों से छुट्टी पाकर दीक्षा ग्रहण करती है और परम निश्रेयस की प्राप्ति के लिए कठोर साधना में अपना जीवन उत्सर्ग कर देती हैं। इसके दो कारण है–

(१) प्रस्तुत पुस्तक में ऐसी ही नारियों का चरित चित्रित किया गया हे जिन्होंने अन्त में दीक्षा ग्रहण की थी। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि स्त्रियों का स्थान घर

में नहीं है।

(२) दूसरे, आर्यावर्त्त में प्राचीन परिपाटी ही ऐसी थी, कि गृहस्थावस्था में लौकिक कर्त्तव्यों को पूर्ण कर चुकने के प्रायः पश्चात् क्या पुरुष और क्या स्त्रियां-सभी-पारलौकिक कर्त्तव्यों की ओर ध्यान देते थे। आगामी जीवन को सुधारने का कार्य इसी जीवन से आरंभ कर देते थे। वह जीवन एक प्रकार से सार्वजनिक जीवन था क्योंकि उसमें कुटुम्ब और जाति-पांति का कुछ भी सम्बन्ध न होकर सारे संसार के साथ नाता जोड़ा जाता था। वह जीवन दूसरी दृष्टि से सर्वथा वैयक्तिक जीवन भी था। क्योंकि उसमें रहकर जो कुछ भी साधना की जाती थी वह दूसरों के लिए नहीं वरन् केवल आत्म-कल्याण की प्रबल भावना से की जाती थी। यहां तक कि धर्मोपदेश भी आत्म-कल्याण का साधन था।

प्रस्तुत पुस्तक विशेषतः महिला समाज के लिए लिखी गई है। महिला-समाज के लिए जिस सरल भाषा के व्यवहार की आवश्यकता है, उसकी पूर्ति अगले संस्करण में कर दी जाय, यह वांछनीय है। आशा है बहिनें भी अपनी भाषा सम्बन्धी योग्यता बढ़ाने का प्रयत्न करेंगी।

सर्वसाधारण के समक्ष मंगलमूर्ति महासतियों के महिमामय जीवन-वृत्तान्तों को उपस्थित करने का मुनि-श्री ने जो प्रयत्न किया है, उसके लिए वे सभी के धन्यवाद के पात्र हैं।

श्री जैन गुरुकुल, (ब्यावर) — विनीत, शोभाचन्द्र, भारिल्ल न्यायतीर्थ

जैन-जगत की महिलाएँ



श्रीमान सेठ पूनमचन्दजी मेहता, मदनगंज किशनगढ़ ।

प्रकाशक

१ ब्राह्मी



ठको ! आपने श्री ऋषभदेवजी का नाम तो अवश्य ही सुना होगा। उन्होंने, इस पुण्य-भूमि भारतवर्ष की अयोध्यापुरी में, राज्य की नींव, सब से पहले डाली थी। हमारी चरित-नायिका 'ब्राह्मी' उन्हीं ऋषभदेवजी की पुत्री थी। उनकी माता का नाम 'सुमंगला,' सब से बड़े भाई का नाम 'भरत' और छोटी बहिन का नाम 'सुन्दरी' था। उस काल में प्रजा स्वतन्त्र थी। लोगों की प्रकृति बड़ी ही कोमल और उदार थी। उस समय की सब से बड़ी सजा, 'धिक्कार' मात्र कह देना, थी। जनता, जगली फल, फूल और मूल खा कर ही मस्त रहती थी। राज्य की नींव ही क्यों, ससार-भर में, जो धर्म नीति, व्यवहार नीति और कला कौशल है, इन सब का श्रीगणेश भी, भगवान् श्री ऋषभदेवजी ही ने किया था। गृहस्थी की गाड़ी में नर और नारी, ये ही दो पहिये होते है। इन दोनों अगों की समानता तथा पूर्णता ही पर, गृहस्थी की गाड़ी, सुख पूर्वक चल सकती है। यह बात, ऋषभदेवजी को भली भाति मालूम थी। इसलिए उन्होंने नारियों की शिक्षा दीक्षा का भी पर्याप्त प्रबन्ध किया था।

ऋषभदेवजी ने ब्राह्मी को अठारह प्रकार की लिपियों और चौसठ प्रकार की कलाओं का पूरा पूरा ज्ञान करा दिया था। यही कारण था, कि ब्राह्मी, उस समय की परम विदुषी नारियों में से एक थी। अपनी पुत्री को पूर्ण विदुषी देख और अनुभव कर, ऋषभदेवजी ने. कन्याओं तथा महिलाओं की शिक्षा का सारा भार, उन्हीं के सिर-कन्धों रखदिया था। ब्राह्मी की रुचि, इस कार्य की ओर, बालपन से ही थी। परन्तु जब इस कार्य का सारा भार ही उन के सिर कन्धों आ पड़ा तब तो अपनी सारी शक्ति ही उन्होंने इस ओर लगा दी। उन्होंने बालिकाओं और महिलाओं को केवल साक्षर बनाने ही में, अपने कर्तव्य की इति-श्री न समझी; वरन् उन्होंने वे-वे सम्पूर्ण प्रयत्न किये, जिन से नारी–जगत् का शरीर, मन, और ज्ञान सब तरह से सुन्दर, सुदृढ़ और पूर्ण हो जाय। वे स्वयं भी इतनी अधिक विद्याप्रेमी, साहित्य-सेविका, पंडिता, एवं विदुषी थी, कि यदि उन्हें 'सरस्वती' कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी। उनके दर्शन और शरण पाकर, मूर्ख-से मूर्ख भी, एक बार, बड़े-से-बड़े पंडितों को पराजित करने का साहस कर सकता था।

आज के शिक्षित युग में भी, अनेकों ऐसे व्यक्ति हैं, जो समय-असमय कहा करते हैं, कि "एक घर में दो कलमें चलीं, कि उस घर का सर्वनाश हुआ।" पाठकों! कैसी मूर्खता-पूर्ण युक्ति है! शिक्षा से सर्वनाश, या अशिक्षा से सर्वनाश? परकीयता में पलने-पुसने के कारण ही आज, हमारे ऐसे गंदले विचार हो गये हैं। भारतवर्ष ने जिस दिन से, माताओं, बहिनों और अपनी बेटियों को शिक्षित बनाने का विचार छोड़ दिया है, बस, उसी क्षण से, हमारे सर्व-नाश

का श्रीगणेश भी हो गया है। नारियों के मूर्ख रहने ही से, उनकी गोदी की अमर शोभा, उनकी सन्तान, मूर्ख, रोगी, शक्तिहीन, तथा अल्पायु हो गई। तब राष्ट्र की कमर न टूटती, तो और होता ही क्या? हम, इसी से, अपनापन भूल गये। हमारी संस्कृति जाती रही। हम परकीयता के उपासक और पोषक बन गये। तब हमारा धर्म तो रहता ही कैसे? क्योंकि, जगत् में, गुलामों का कोई धर्म और कर्म, नहीं होता। पाठकों! यदि नारी-शिक्षा में, किसी प्रकार का भी कोई दोष कभी होता तो क्यों भगवान् ऋषभदेव, स्वयं अपनी पुत्री, ब्राह्मी को पढालिखा कर पंडिता बनाते? नारी-शिक्षा के विरोधियों को, इस उदाहरण से कुछ पाठ सीखना चाहिए। परन्तु हां आज की नारी-शिक्षा के हम भूल कर भी हामी नहीं। हम तो उनमें, उस शिक्षा का प्रचार और प्रसार चाहते हैं, कि जिससे उनका चारित्र बने उनका मन उदार और संस्कृत हो जावे, उन की बुद्धि का पूरा पूरा विकास हो पावे, और वे स्वावलम्बी बन सकें। यदि नारियां ऐसी हो गई, तो दुनिया की, फिर कोई भी महान् से महान् शक्ति भी, हमें दबा नहीं सकती। अतः सिद्ध हुआ, कि नारियों की सच्ची शिक्षा ही में, राष्ट्र के जीवन, उन्नति, और संरक्षण के बीज छिपे रहते हैं। तब क्या, हमें भी, अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से इस ओर न जुट पड़ना चाहिए?

समय आया, ऋषभदेवजी ने दीक्षा धारण कर, भू मडल पर विहार किया। तप और संयम के द्वारा, उन्होंने, अपने सम्पूर्ण घनघाती कर्मों का सर्वनाश कर के, दिव्य कैवल्य ज्ञान प्राप्त किया। विचरण करते करते, वे एक बार, उसी अयोध्यापुरी में पधारे। उन के पावन उपदेश को सुनने के लिए सभी अयोध्यावासी लोग गये। ब्राह्मी ने भी उसमें

भाग लिया। उसका असर, उन के हृदय पर इतना गहरा पड़ा, कि वे भी दीक्षा लेने पर उतारू हो गईं। उनके भाई भरतजी ने, उनकी दीक्षा, बड़े ही समारोह से की। ब्राह्मी को दीक्षित होते देख, अन्य कई महिलाओं ने भी वैसा ही किया। सब से बड़ी साध्वी ब्राह्मी ही हुईं। उन की बुद्धि बड़ी ही तीव्र थी। थोड़े ही समय में, उन्होंने, सारे शास्त्रीय ज्ञान का सम्पादन कर लिया। तब तो उनके उपदेशों के द्वारा, नारी जगत् में जागृति करने की बड़ी ही सुन्दर और सहज सुविधा हो गई। उधर, पुरुष समाज में, उनकी कुभावनाओं को निर्मूल कर, उन के हृदयों में, जागृति, जीवन, बल, और धर्म के नाम पर मर मिटने की भावनाओं को ठूँस-ठूँस भरने के लिए भगवान् अपने सम्पूर्ण बल से जुट पड़े। यूँ, नर और नारी, दोनों समाजों की उन्नति का मार्ग, उस काल में, बड़े ही जोरों से प्रशस्त हो गया। भगवान् और ब्राह्मी के भरसक प्रयत्नों और सदुपदेशों से, देश की निष्प्राण जनता के हृदयों में जीवन का संचार हो गया। लाखों-करोड़ों भूले-भटके नर-नारी सत्पथ पर लग गये। वे सारासार के तत्त्व से भलीभांति परिचित हो गये। अपने तत्त्व-विचार से उन्होंने ज्ञान पाया, कि "परोपकार ही जगत् में पुण्य है; और पर-पीड़न ही पाप है।" सच है शिक्षा, हिये की आंखोंको खोल देती है।

अनेकों महिलाओं के दिल पर तो, सती ब्राह्मी के उपदेशों का ऐसा असर पड़ा, कि वे भी संसार की सारी मोह-ममता को लात मार कर, दीक्षित हो गईं। ब्राह्मी का शास्त्रीय ज्ञान इतना चढ़ा-बढ़ा था, कि उनसे वाद-विवाद करने में, उस समय के बड़े-से-बड़े तत्त्ववेत्ता, ज्ञानी पंडित तक, अपने आप को हीन समझते थे। ब्राह्मी भगवान् की इस शिक्षा को कि—

"जय चरे जय चिट्ठे, जयं आसे, जय सए ।
जयं भुजतो भासतो, पावकम्मं न बन्धइ ॥"

अर्थात् यत्न-पूर्वक चलना, ठहरना, बैठना, सोना, खाना, और बोलना ही को,अपने जीवन का आदर्श बना लिया भगवान की इस शिक्षा का, व आजीवन पूरा पूरा पालन करती कराती रहीं। महाभागे! धन्य! आप जैसी महासतियों की, प्रत्येक देश, प्रत्येक समाज, और प्रत्येक काल को पूरी-पूरी आवश्यकता है। वह देश, वह समाज, और वह काल, सचमुच में बड़ा ही भाग्यशाली है, जिसमें आप जैसी महिला-रत्न जीवन और जन्म धारण करती हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] भगवान ऋषभदेव ने नारियों की शिक्षा दीक्षा का प्रबन्ध क्यों किया था?

[२] ब्राह्मी की विद्वता और कार्यों का वर्णन, थोड़े में करो।

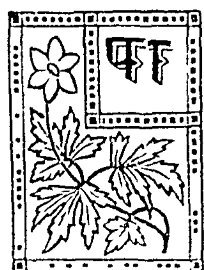
[३] सिद्ध करो, कि नारी-शिक्षा ही राष्ट्र की उन्नति, जीवन और सरक्षा का मूल-मन्त्र है।

[४] नारियों की शिक्षा, किस प्रकार की होनी चाहिए?

[५] ब्राह्मी और आज की नारियों के आदर्श में क्या अंतर है? थोड़े में समझाओ।

---

२ सुन्दरी



ठकों ! जिन महासती ब्राह्मी का वर्णन आपने अभी पढ़ा है, उन्हीं की छोटी वहिन का नाम था 'सुन्दरी'। इनके पिताजी भी भगवान् ऋषभदेवजी ही थे, तव भी माता इनकी सुनन्दा थी। इनके पिता ने, इन्हें भी, ब्राह्मी ही की भांति, अठारह प्रकार की लिपियां और चौसठ प्रकार की कलाएँ सिखाई थीं। साथ ही इनकी अभिरुचि देखकर, इनके पिता ने, इन्हें, गणित-शास्त्र का विशेष अध्ययन कराया था। आगे चलकर, इन्हें अपने गणित-ज्ञान के वल से, अच्छा ज्ञान होगया था। गणित-विद्या कोई ऐसी वैसी विद्या नहीं है। संसार के छोटे-से-छोटे और वड़े-से-वड़े प्रत्येक कार्य में, उसकी ऐसी ही आवश्यकता है, जैसे शरीर के लिए प्राण की। विना प्राण के शरीर, जैसे किसी काम का नहीं, वैसे ही गणित के विना, अच्छे-से-अच्छा विषय भी नीरस और थोथा है। वर्तमान युग में भी, लीलावती के हिसाव, वड़े-वड़े पंडितों के दिमागों को चक्कर में डाल देते हैं। उसी गणित-विद्या में, सुन्दरी जी ने पूरी-पूरी प्रवीणता प्राप्त कर ली थी।

एक वार, श्रीमती सुन्दरी, जीवन-मरण के घोर संकट से भयभीत होकर, श्रीमती ब्राह्मी के पास, दीक्षा धारण करने के

लिए गए। उनके भाई भरतजी को जब यह सन्देश मिला, तब वे वहां पहुँचे। और, उन्होंने उस काम से उन्हें रोक दिया। भरतजी तो, तब, वहीं से, छहों खण्डों को विजय करने के लिए चल पड़े, और अपनी मनोभिलाषा को सफल न होती देख श्रीमती सुन्दरीजी तप साधना में संलग्न हो गईं। थोड़े ही समय में, उन्होंने ऐसे उग्र तप की साधना की, कि उनके शरीर का सारा लोहू और मांस सूख गया। उनका शरीर अस्थि पंजर मात्र रह गया।

कुछ काल के पश्चात्, छहों खंडों में विजय का शंख नाद फूंकते हुए, भरतजी अपनी राजधानी में आये। वहां आने पर, उन्होंने अपनी बहिन को महान् दुर्बल, कृश, और निस्तेज पाया। तब तो, वे अपने परिजन और कर्मचारियों पर बड़े ही आगबबूला हो गये। वे कड़क कर बोले,— 'वह कौन है, जो अपने सिर को धड़ से अलग देखना चाहता है, और जिसने सुन्दरी जी को इतना प्राण हरण कष्ट दिया है! और-तो और इनके खान पान तक का पूरा प्रबन्ध, तुम लोगों ने नहीं किया। यदि यह न होता, तो सूख कर कांटा ये बनती ही क्यों? जान पड़ता है, किसी सेवक ने, इनकी आज्ञा को ठुकरा दिया है। नहीं तो, सांसारिक सभी प्रकार के वैभव के रहते हुए, इनके शरीर की यह दुर्दशा क्यों हो पाती" इस पर, सभी परिजन और कर्मचारी लोग, भयभीत होकर, गिड़गिड़ाते हुए बोले, ' महाराज ! न तो इनके खान पान ही का प्रबन्ध अधूरा रहा है, और न किसी सेवक ही ने इनकी किसी आज्ञा का, कभी उल्लंघन किया है। परन्तु जिस दिन से, आप छहों खंडों को विजय करने के लिए निकले, तब से आज तक, ये, बड़ी ही कठोर तप की आराधना करती रही हैं। बस, उसी तप ने इनके शरीर को इतना कृश और निस्तेज बना दिया है।' उन

के इस कथन को सुनकर भरतजी ने अनुमान किया, कि अब सुन्दरी को संसार से पूरी-पूरी उदासीनता हो गई है। गृहस्थाश्रम का पालन कर सकना, अब इनके लिए असम्भव-सा नहीं, तो कठिन तो अवश्य ही दिख पड़ता है। अतएव इसीमें अब इनका तथा अपना परम श्रेय है, कि साध्वी-धर्म की दीक्षा इन्हें दिलवा दी जाय। जिससे इनका शरीर भी स्वस्थ बना रहे; और धर्म की साधना भी वे कर सकें।

मनुष्य की भावनाएं, यदि शुद्ध हैं, तो वे एक न एक दिन अवश्यमेव फूलती और फलती हैं। उन्हीं दिनों,विचरण करते कराते, भगवान और महासती ब्राह्मीजी भी उधर आ निकले भरतजी ने अपने निश्चय के अनुसार, बड़े ही ठाट-बाट के साथ, परम साध्वी ब्राह्मीजी से श्रीमती सुन्दरी जी को साध्वी-धर्म की दीक्षा दिलवा दी। अपने भाई भरतजी के इस सुकृत से सुन्दरी जी को अपार हर्ष हुआ। उनके चित्त की सारी चिन्ता, बात की बात में मिट गई। उनका कृश चेहरा, आनन्दसे फूल उठा। सच है, मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है। कुछ ही काल के पश्चात्, उन्होंने काफी ज्ञान कंठस्थ कर लिया। और, तप, संयम, तथा शील के पालन में, दिन, रात, संलग्न रहने लगीं।

उधर, भरत जी ने जब छहों खंडों के विजय के लिए प्रस्थान किया था, उन दिनों, उन के बड़े भाई, बाहुबली, तक्षशिला में राज कर रहे थे। भरतजी का यह कार्य, कम-से-कम, बाहुबली को, उनके अपने राज के लिए तो, बड़ा ही अखरा। विजय लाभ कर लेने पर, उन्हें अपने छोटे भाई की अधीनता में रह कर, जीवन बिताना तो जरा भी न भाया। दल-बल साज कर, अपने आक्रमण कारी, भरतजी पर क्रोधित

हो कर, वे रणांगण में उतर पड़े। भरतजी, ससैन्य, वहां पहले से डटे थे ही। दोनों ओर की सेनाओं की मुठभेड़ होने ही वाली थी, कि इतने ही में इन्द्र वहां आ पहुँचे। वे बोले, "अरे, अभी-अभी तो, भगवान् ने प्रजा की सुख और समृद्धि के लिए, कुछ भी उठा कर बाकी न रक्खा था, और उन्हीं के आप पुत्र कहला कर, प्राणियों के रक्त-पात के लिए, यों छटपटा रहे हो? क्या, तुम्हें अपने पूजनीय पिताजी के जगत्-व्यापी गौरव की रक्षा का कोई भान और अभिमान नहीं है? लड़ाई तो, तुम दो भाइयों के बीच की है, और इस का असर, रक्त-पात के रूप में, अकारण ही गिरेगा बेचारी निरपराध प्रजा के ऊपर! यह कौन सी बुद्धिमानी है? यदि तुम्हें युद्ध ही प्यारा है, तो क्यों नहीं, तुम दोनों ही परस्पर लड़-भिड़ लेते हो? इन्द्र के इस सत्परामर्श को सुन और निरपराध प्रजा के अकारण सर्वनाश का अनुभव कर के, उन्होंने उस युद्ध को तो, वहीं बन्द कर दिया। और, परस्पर के युद्ध की बात मन में ठानी। तब अपने निश्चय के अनुसार उन्होंने, दृष्टि युद्ध, वाक-युद्ध, भुजा-युद्ध और मुष्टि युद्ध करना प्रारम्भ किया। प्रारम्भ के तीन युद्धों में तो, दोनों सब प्रकारसे समान ही रहे। परन्तु जब मुष्टि युद्ध प्रारम्भ हुआ, और बाहुबली ने भरतजी के ऊपर प्रहार करने के हेतु मुष्टि उठाई, त्योंही इन्द्र ने आकर उन का हाथ पकड़ लिया और बोले, "बाहुबली! जरा आगा-पीछा तो इस बात का सोचो! भरतजी, तुम्हारे छोटे भाई हैं। यों छोटे भाई पर मुष्टि प्रहार करना, क्या तुम-जैसे वीरों के लिए कोई शोभा का काम है?" इस पर बाहुबली बोले, "देव! उस युद्ध को बन्द करवा के, आप ही ने तो, यह उपाय हम लोगों को सुझाया था। और, अब आप ही, ऊपर से, यों भी कहते हैं?" इस पर इन्द्र ने

उत्तर दिया, "बाहुबली ? एक बार ज़रा स्थिर चित्त से, इस के परिणाम को सोचो। तब तुम चाहो, सो करो। "बाहुबली के हृदय में इन्द्र के वे बोल, तीर की भाँति चुभ गये। वे कड़क कर बोले, "बस, देव ! बस। सोच लिया: और अच्छी तरह सोच लिया। इस मिथ्या मोह-माया और क्षण-भंगुर राज्य-लक्ष्मी से, मुझे अब तनिक भी मोह न रहा। अब ये बातें मुझे विष के समान दूषित, और शूली के समान संकट-पूर्ण जान पड़ती है। मेरा अब दृढ़ निश्चय है, कि कंचन और कामिनी को त्याग कर, मैं निर्ग्रन्थ मुनि बन जाऊँ। और, अपनी आत्मा का कल्याण करने में जुट पड़ूं।"

यूँ कहते-ही-कहते, बाहुबली ने उस द्रव्य-युद्ध से, सदा के लिए नाता तोड़, कर्म शत्रुओं से मुठ-भेड करने के लिए कमर कसी। उन्हों ने, उसी क्षण, सब के देखते-ही-देखते, अपने ही हाथों से, अपने सिर के बालो का लुंचन कर डाला, और, राज-पद, राज-सी वस्त्र, तथा राज्य को लात मार कर, साधु बन गये। फिर भी छोटे-बड़े के भेद-भाव से, उन का अन्तः करण दूषित हो रहा था। आज भी, उन के दिल में, इस बात का अभिमान था, कि "भगवान के पास, जितने भी मेरे छोटे भाइयों ने दीक्षा ली है, वे दीक्षा में बड़े मुझ से भले ही हों ! परन्तु उम्र मे तो, वे मुझ से सदा छोटे ही हैं, और रहेगें। तब, मैं उन्हें वन्दना क्यो और कैसे कर सकता हूँ ?" बस इसी अभिमान के कारण, वे भगवान् के दर्शन तक को भी न गये। उन्होंने सोचा, कि यदि मैं भगवान् के दर्शनार्थ गया, तो उनके साथ के छोटे-बड़े सभी शिष्यों को वन्दना करनी पड़ेगी। अतः यह सोच कर, वे वहीं ध्यानस्थ खड़े हो गये। वे अपने ध्यान-योग में इतने अचल और दृढ़-रूप से निरत

हुए, कि उन्हें अपने शरीर तक का भान न रहा। मक्खियाँ, मच्छरों, और डासों ने, उनके शरीर को डंक मार मार कर लोहू लुहान कर दिया। परिन्दों ने उनके कन्धों पर अपने घोंसले बना लिये। उनके शरीर का आश्रय लेकर, लताएँ उनके चारों ओर लिपट गईं। वे अपने ध्यान के रंग में इतने मस्त थे कि इन क्षुद्र प्राणियों की ओर से, निरन्तर दी जानेवाली त्रास तक का, उन्हें कोई भान न हुआ। तब तो भगवान् ने ब्राह्मी जी तथा सुन्दरीजी से कहा, कि तुम्हारे संसारी भाई, बाहुबलीजी, अभिमान में चूर-चूर हो रहे हैं। तुम जाओ, और उन्हें समझाओ। भगवान् के आदेश को पाकर, दोनों आर्याजी, बाहुबली के पास गईं और उन से कहने लगीं —

वीरा म्हारा गज-थकी उतरो, गज चढ्या केवल न होसी रे॥टेक॥
बन्धव, गज-थकी उतरो, ब्राह्मी, सुन्दरी इम भाषे रे।
ऋषभ जिनेश्वर मोकली, बाहुबल, तुम पासे रे ॥ १ ॥

लोभ तजी संयम लियो, आयो वली अभिमानो रे।
लघु बन्धव बन्दू नहीं, काउसग रह्यो शुभ ध्यानो रे ॥ २ ॥

बरस दिवस काउसग रह्या, बेलड़िया लिपटाणी रे।
पंखी माला मांडिया, शीत, ताप सुखाणी रे ॥ ३ ॥

साध्वी वचन सुणी करी, चमक्या चित्त मुझारो रे।
हय, गय, रथ पायक छाड़्या, पर चढियो अहंकारो रे ॥ ४ ॥

बैरागे मन वालियो, मूक्यो निज अभिमानो रे।
चरण उठायो वन्दवा, पाया केवल ज्ञानो रे ॥ ५ ॥

अर्थात् हे बन्धु बाहुबलीजी! भगवान् ने अपना सन्देश सुनाने के लिए, हमें तुम्हारे पास भेजा है। आप हाथी पर चढ़े बैठे हो। ज़रा, नीचे उतरो। आप ने लोभ को छोड़ कर

संयम को तो धारण किया है; किन्तु अपने छोटे भाइयों को नमस्कार न करने के कारण, आप के हृदय में फिर से अभिमान आ गया। इसीसे, यहां, इतने दिनों तक, ज्यों-के-त्यों खड़े रह गये हो। जरा, देखो तो, इस ध्यान से आप का शरीर कैसा कृश हो गया है ! अरे, पक्षियों तक ने आपके कन्धे पर घोंसले बना लिये। डांसों, मच्छरों, और मक्खियों ने आप के शरीर को, अपना भोजन समझ कर, खूब ही, काटा, और खाया, फिर भी आप तो इतने क्षमा-शील निकले, कि इन सारे-के सारे दुखों की कोई पर्वाह तक न की। मुँह से उफ़ तक न निकाली। किन्तु भाई ! हमें बड़ा खेद है, कि आप अपनी इस पकी-पकाई खेती को मटिया मेट करने के लिए, अभिमान के महा मदान्ध हाथी पर क्यों और कैसे चढ़ बैठे।"

अपनी बहिनों के इस सन्देश को सुन कर, बाहुबलीजी चौंक पड़े। वे मन-ही-मन कहने लगे, कि क्या, इस समय, मैं सचमुच ही हाथी पर चढ़ा बैठा हूं ? अरे, हाथी, घोड़े, राज्य, परिजन, और पुरजन, सभी को तो मैं ने छोड़ दिया, और मैं उस पर बैठा कब तथा कहां ? अहो, अब समझ में आया। ब्राह्मी तथा सुन्दरी जी, जो भी कह रही हैं, बिलकुल यथार्थ है। मैं अभिमान्-रूपी हाथी पर चढ़ बैठा हूँ। मुझ-जैसे अभिमानी को धिक्कार ! सैकड़ों बार धिक्कार !! साधु बन जाने पर भी, अभी तक अभिमानी बना ही रहा ? यह तो साधुत्व के लिए बड़े ही कंलक की बात है ! साधुओं के लिए, यह सब प्रकार से त्याज्य है। आत्मोन्नति के मार्ग में, यह उसी समुद्री चट्टान के सदृश घातक और हानिकर है, जो दिखती तो नहीं, किन्तु बड़े-से-बड़े जहाज़ को, बात-की बात में, तहस-नहस कर सकने की सामर्थ्य रखती है।

आत्मोन्नति के चाहने वालों को, तो इस से सदा सर्वदा दूर ही रहना उचित है। अतएव मैं जाऊँ, इस अभिमान रूपी हाथी से उतर कर चलूँ, और उन सभी मुनियों को विधिवत् वन्दना करूँ। इतना करने पर ही, मैं अपने ध्यान, तप, सयम, और शील पालन मे पूरा पूरा सफल हो सकूंगा। यूँ आत्म धिक्कार के शिकार बनते बनते, बाहुबली ने, उन मुनियों के निकट वन्दनार्थ जाने के लिए, अपना कदम उठाया। उसी समय उन्हे कैवल्य ज्ञान भी हो गया। जिस तरह, राई की आड़ मे पर्वत और तिनके की ओट मे सूरज छिपा हुआ रहता है, ठीक उसी प्रकार, बाहुबली का कैवल्य ज्ञान भी अभिमान की ओट मे छिपा पड़ा था। उस अभिमान के दूर होते ही, दिव्य कैवल्य ज्ञान का उज्ज्वलतम प्रकाश, उनके हृदय मे, चमक उठा।

दोनों बहिने भी अपने निश्चित स्थान की ओर लौट पड़ीं। उन दोनों आर्याओं ने, भू मण्डल में इधर-उधर भ्रमण कर, अनेकों भूले-भटके ससारी जीवों को सन्मार्ग पर लगाया, दोनों ने उन्हें आत्म कल्याण का मार्ग दिखाया। यूं, स्वार्थ और परमार्थ की परमोच्च साधना करते-कराते, अपने सम्पूर्ण घन घाती कर्मो का मूलोच्छेदन कर, वे सदा के लिए, मोक्ष-धाम में जा विराजीं। इन दोनों सतियों का जीवन ससार की नारियों के लिए परमादर्श और अनुकरणीय है। ये दोनों-की-दोनों, बाल ब्रह्मचारिणी, और अपने समय की सर्वोत्कृष्ट विदुषी महिलाएँ थीं। हमारी बहिनों, तथा माताओं का कर्तव्य है, कि वे इन प्रातःस्मरणीय महा सतियों की करणी और कथनी को अपनी नस-और नाड़ियों मे उतारें। और, तब अपने जीवन और जन्म को भी, वे उन्हीं के समान आदर्श बनावें।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] गणित-शास्त्र की उपयोगिता के कुछ प्रत्यक्ष उदाहरण दो।

[२] सिद्ध करो, कि अभिमान, आत्मोन्नति के मार्ग में बड़ा भारी रोड़ा है।

[३] श्रीमती सुन्दरीजी के जीवन से बताओ, कि मनुष्य की शुद्ध भावनाएं एक-न-एक दिन अवश्यमेव फूलती और फलती हैं।

[४] इन्द्र और बाहुबली के संवाद से हमे कौन-सी शिक्षा मिलती है?

[५] दृष्टि-युद्ध और वाक्-युद्ध को थोड़े में समझा कर, उनकी विशेषताएं प्रकट करो।

[६] ब्राह्मी और सुन्दरी जी के द्वारा, जो सन्देश भगवान् ऋषभदेवजी ने बाहुबली के पास भेजा, उसे कंठाग्र कर लो।



३ कौशल्या



मु निसुव्रत तीर्थंकर के शासन काल में, दर्भ-स्थलपुर के महाराज सुकौशल नरेश थे। उनकी सुकन्या का नाम कौशल्या था। कोई-कोई उसे जिता भी कहते थे। वह अपने बालपन से ही, अनेकों सद्‌गुणों का आगार थी। समता के भाव, उसे इसकी जन्म घुटी के साथ पिलाये गये थे। और तो-और, स्वयं ईर्ष्या तक इसके पास फटकने में ईर्ष्या करती थी। रूप-सौन्दर्य भी उसका बड़ा ही अनुपम था। अपने छुटपन से ही, सत्संगति के प्रभाव से, ज्ञान के समान, कहीं भी कोई श्रेष्ठ नहीं होता, इस सच्छिद्धान्त को, वह भली-भांति जानती थी। आज की भोली भाली महिलाओं के समान, कि एक ही घर में दो कलमें कैसे चलें, इस सिद्धान्त की हामी तो वह भूल कर भी नहीं करती थी। जब वह सब प्रकार से सयानी और प्रौढ़ हो गई, उसका विवाह, अयोध्या-नरेश महाराज दशरथ के साथ, बड़े ही समारोह के साथ, कर दिया गया। कुछ काल बीतने पर, सुमित्रा और कैकयी आदि कन्याओं के साथ भी दशरथजी ने विवाह किया। उस समय भी ईर्ष्या, सोतिया डाह के रूप में, उसके पास, स्वप्न तक में न फटकी। यह

बेचारी मन मसोस कर ही रह गई, कि कोई चिन्ता नहीं। कौशल्या यदि मुझे अपने घर नहीं बुलाती है, तो न सही; संसार की अन्य सभी नारियां तो, निमन्त्रण दे-दे कर, और समादर करकर के, मुझे अपने यहां बुलाती हैं। यही कारण था, कि कौशल्या के पति-देव का परिवार बड़ा भारी होते हुए भी, वहां एक ही चूल्हा और एक ही चौका था। परन्तु आज की हवा तो कुछ निराली ही है। इस युग की माताएँ और बहिनें, अपने पति देव के घर में घुसते ही, एक के दो, और दो के चार चूल्हे-चौके बना देने की आयोजना को काम में ला बैठती हैं। मानों, यह प्रथा उन्हें उनके मायके से, दहेज ही में मिली होती है। इसके विपरीत दशरथजी के परिवार की सभी महिलाएं, पानी और रंग, जैसे घुल-मिल कर रहते हैं, ठीक वैसे ही प्रेम-पूर्वक रहती थीं। फूट ने, कई बार, उनके परिवार मे, अपना पैर फँसा देना चाहा। परन्तु उसका वह सारा सिर-तोड़ परिश्रम, 'चहत उड़ावन फूँकि पहारा' अर्थात् फूँक से पहाड़ को उड़ा देने के सदृश, बिलकुल बेकार सिद्ध हुआ। यही कारण था, कि दशरथ का आदर्श परिवार, उनके अपने सारे राज्य के लिए भी, आदर्शवाद का एक जीता-जागता नमूना बन गया था। जिससे, उनका सारा राज्य ही, धन और जन, तथा सुख और शान्ति से सम्पन्न हो गया था। क्यों न हो। 'जहां सम्प तहं सम्पति नाना।' अर्थात् जहां सम्प, या संगठन, या पारस्परिक प्रेम-भाव का आदर्श जीवन होता है, वहीं सुख और सम्पत्ति, खूब ही फूलती-फलती, और चिरकाल के लिए, उसी को अपना निवास-स्थान बनाती है। किसी ने ठीक ही कहा है, कि सम्प, सम्पत्ति का पति है और, सम्पत्ति है उसकी पतिव्रता पत्नी। पतिव्रता नारियां, कभी अपने पति को छोड़ कर, अन्यत्र

नहीं रहती । यदि दैववशात्, कहीं, कुछेक काल के लिए उसे अकेला रहने का अवसर भी आया, तो पति-विरह में, वह फूलती फलती तो कभी ही नहीं । सूख कर काटा बन जाती है। यही दशा सम्प के विना सम्पत्ति की होती है। फल यह होता है, कि सम्प के अभाव में वहा थोड़े ही समय में उस घर के चूहे तक एकादशी मानने लग जाते हैं। यह बात राव से लगाकर रक तक, सभी के लिए एक-सी लागू होती है । देश, जाति और समाजों के इतिहास, इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं । यदि हमारी आज की माताओं और बहिनों ने सम्प रूपी अमोघ मन्त्र-सिद्धि को प्राप्त कर लिया, तो यह ध्रुव निश्चय है, कि दुख और दर्द, ससार की बलाए और बलाएं, शोक और सन्ताप, और कलह तथा कुमति, सब के-सब, उनसे वैसे ही मुख-मोड़ कर, दूर भागते रहेंगे, जैसे किसी हौवे कौवे से कोई अबोध बालक डरकर, भाग जाने, और अपनी मां की गोद में छिपजाने का, प्राण-प्रण से प्रयत्न करता है। अत माताओं और बहिनों ! आज से, आजीवन के लिए, आप, सम्प से रहने का दृढ़ व्रत ललो। फिर, कैसी ही भयकर आपत्ति का पहाड़ आप पर आ कर क्यों न टूट पड़े, आप की स्वतन्त्रता में, कितनी ही प्रचण्ड बाधा आकर क्यों न पड़ जावे, आप को कितना ही कम खाने और कम पहनने को क्यों न मिले, यदि आपके साथ सम्प है, तो आप का बाल बाका नहीं हो सकता ! माताओं ! आप गृह लक्ष्मिया कहलाती हो। अत फूट-राक्षसी को तो भूल कर भी, आप अपने तथा अपने परिवार के पास, कभी मत फटकने दो । क्योंकि, इस राक्षसी का, जहा भी कहीं पैर-पसारा हुआ, कि वहा, यह, सोने की लका को राख बना देती है । किसीने क्या ही ठीक कहा है —

फूट ऊपजे जौन कुल; सो कुल वेग नशाय।
युग बांसन की रगड़तें; सिगरो वन जल जाय॥

यह है फूट-राक्षसी की अमानुषिकता का प्रभाव! अतः अपने बनते-बल, इसके चंगुल में फँस न जाओ, इस बात का सदा प्रयत्न करती रहो। बस, यही, ऊसर भूमि को नन्दनवन में बदल देने का राज-मार्ग है। यही, उन्नति का सच्चा और सीधा-सादा मार्ग है।

माताओं और बहिनों! शताब्दियां बीत गईं, फिर भी, संसार में, कौशल्या के प्रति वही समादर है, जैसा कि उसकी जीवित अवस्था में था। आज भी, जैन-जगत् की सोलह महा-सतियों में, उसका नाम, सम्मान और बड़े ही स्नेह के साथ लिया जाता है। यह उसके सम्प-युक्त भावों और कार्यों ही का प्रत्यक्ष प्रभाव है, और था। अपने पुत्र, राम को राज गादी न देने पर भी, भरत की माता, कैकई के प्रति, उसने स्वप्न में भी ईर्ष्या नहीं की थी। ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते, राज-गादी का एक-मात्र अधिकार राम ही को था। परन्तु वह तो, सदा यही सोचती और समझती रही, कि राम और भरत, तथा लक्ष्मण और शत्रुघ्न, चारों मेरे ही तो पुत्र हैं! ये चारों, एक ही परिवार-रूपी शरीर के अंग विशेष तो हैं! हीरे की अँगुठी शरीर की किसी भी अँगुली में क्यों न पहनी जाय, उससे शोभा तो सम्पूर्ण शरीर ही की होती है! वैसे ही, कांटा, शरीर के किसी अँग ही में क्यों न लगे, उससे जो वेदना होगी, उससे तो, सारे ही शरीर में तिलमिलाहट हो उठेगी! बस, यही हाल राम तथा भरत की राज-गादी का है। कोई भी राजा क्यों नहीं? मुझे तो सभी पूत, आंखों के तारे के समान प्यारे हैं। मां कौशल्या धन्य! तुम-जैसी आदर्श महा-सतियों ही से तो, ऐसे पवित्र विचारों की परिपालना और

पुष्टि, जगत् में होती आई है। हम शहस्रवार आपके पावन पदों की वन्दना करते हैं।

एक बार, कौशल्या ने सुना, कि लक्ष्मण को शक्ति-बाण लग गया है। माताओं! उस समय के उद्गार जो उसके थे, वे स्वर्णाक्षरों में लिखने के योग्य हैं। उसने कहला भेजा था, कि राम, बिना लक्ष्मण के आकर, मुझे मुँह न दिखावें। आह! लक्ष्मण की माता, सुमित्रा के प्रति, कौशल्या का कितना अतुल प्रेम था! माताओं! आप भी कौशल्या का अनुसरण और अनुकरण करो। एक समय आवेगा तब आप भी महासतियों की श्रेणी में अपना नाम लिखा सकेंगी। संसार, आप के नाम को स्मरण कर, आपकी करणी का पदानुसरण करेगा। आखिर दिनों, महासती कौशल्या ने दीक्षा धारण की। और, अन्तिम समय में, सन्थारा धर कर, सद्गति को प्राप्त किया। देवी कौशल्या! तुम्हें प्रणाम!

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] महासती कौशल्या के स्वभाव में एक खास विशेषता कौनसी थी? उसके कारण, महाराज दशरथ के राज्य पर, क्या असर पड़ा?

[२] जहां सम्प तहँ सम्पति नाना। इस कथन की सोदाहरण सत्यता प्रकट करो।

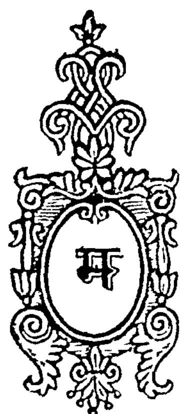
[३] फूट के दुष्परिणामों का थोड़ा-सा वर्णन करो।

[४] अपने सौत के पुत्रों के प्रति, कौशल्या के आदर्श स्वभाव का सांगोपांग वर्णन करो।

[५] ईर्ष्या पर एक छोटा सा निबन्ध लिखो।

[६] रचना में आये हुए मुहाविरे तथा कहावतों का प्रयोग अपने वाक्य में यूँ करो, जिससे उनका अर्थ स्पष्ट हो जाय।

४ सीता



हाराज श्री रामचन्द्रजी के आस-पास के काल ही में, हमारे भारत वर्ष के विदेह-प्रान्त के अन्तर्गत मिथिला नाम एक नगरी थी। वहां, उन दिनों महाराज जनक राज करते थे। उन के एक पुत्री थी। उस का नाम सीता था। उसका शरीर बड़ा ही सुन्दर और सुडौल था। तरुण अवस्था में, श्री रामचन्द्रजी के साथ उसका विवाह हुआ। समय पाकर, महाराज दशरथजी ने, आत्म-कल्याण के हित घर छोड़ना चाहा; उस समय, भरतजी भी अपने पिताजी के साथ जाने लगे। जब कैकई ने इस बात को सुना, तब तो वह बड़ी ही अधीर हो उठी। और, उन्हें किसी भी तरह, रोक लेने का प्रयत्न करने लगी। कई दिन तक उसे कोई उपाय न सूझा। इस लिए रात-दिन वह चिन्ता-मग्न रहने लगी। कैकई की एक दासी थी। जिस का नाम था मंथरा वह स्वभाव की बड़ी ही काइयां और कुटिला थी। उसने कैकई से कहा, " महारानी! तुम ने, जो अपने दो वरदान, अपने पति के पास थाती रख छोड़े हैं, उनका उप-योग, इस समय, तुम क्यों नहीं कर लेतीं ? तुम अपने एक ही वरदान को अभी मांग देखो। तुम आज ही राजा से मांग

लो, कि भरत को राज गादी मिले। यदि इस अवसर को हाथ से तुमने खो दिया, तो फिर, आजीवन तुम्हें पछताना और सिर धुनना पड़ेगा। रामचन्द्र के राजा बन जाने पर, जो-जो कष्ट तुम्हें होंगे, वे भी, सब के सब, इसी एक बात से, अपन-आप टल जावेंगे"। केकई को मन्थरा का यह विचार बड़ाही भला लगा। केकई ने वैसा ही किया। केकई के ऐसे विचार से, दशरथजी के दिल को बड़ी भारी चोट लगी। उनके मन में असमंजस की बड़ी ही भयकर आंधी उठी। वे मन-ही मन कहने लगे, "क्या किया जाय! यदि प्रतिज्ञा भंग होती है, तो अनुचित, और रामचन्द्र को राजगादी नहीं दी जाती है, तो भी अनुचित। इधर, भरत कहते हैं, कि बड़े भाई की मौजूदगी में, मैं राज कर नहीं सकता। अपने पिताजी को इस त्रिदोष के भँवर में फँसा हुआ देख, श्री रामचन्द्र बोले, "पिताजी! आप आत्म-कल्याण में लग पड़ें। मैं वन में चला जाऊँ। और, तब मेरी अनुपस्थिति में, भरत जी राज्य की बागडोर अपने हाथ में लेही लेंगे।" दशरथजी ने वैसा ही किया। वन को जाते समय, लक्ष्मणजी भी राम के साथ हो लिये। सीता बोली, "नाथ! जहा देह, वहा छाया। मैं, आप से अलग, रह ही कैसे सकती हूं? जिय बिनु देह, नदी बिनु वारी। तैसे हि नाथ! पुरुप बिनु नारी, और, 'जहं लगि नाथ! नेह अरु नाते। प्रिय बिनु तियहिं तरणि ते ताते।' इस पर, श्रीराम ने सीताजी को बहुत समझाया। परन्तु उनका निश्चय तो वज्र की रेख थी। वे अपने निश्चय से एक तिल-भर भी न डिगीं। अन्त में, वे, रामचन्द्रजी के साथ हो लीं।

श्रीराम, लक्ष्मण, और सीता ने, घूमते घूमते मालव प्रदेश में होते हुए, नर्मदा, ताप्ती आदि नदियों को पार किया। कुछ ही काल में, वे नासिक के जंगलों के निकट पहुँचे। वहां, भाई

लक्ष्मण, खर दूषण से लड़ने के लिए गये। इतने ही में वहां रावण की ओर से मायाने शंख बजाया। और, एक आवाज़ आई, "भाई राम! मेरी रक्षा के लिए तुरन्त आओ।" ज्यों ही यह आवाज रामचन्द्र ने सुनी, वे बोले, "यह मायावी बात है। लक्ष्मण, कभी हारनेवाला नहीं।" इस पर सीता ने कहा, "आप को जरूर जाना चाहिए। न मालूम, क्या बात है" उधर रामचन्द्रजी गये। पीछे से रावण, सीता के निकट आया। और उन्हें बल-पूर्वक ले गया। जटायु नामक एक परीन्दे ने सीता को विल-विलाते हुए देखा। वह रावण से युद्ध करने के लिए दौड़ पड़ा। रावण के शरीर पर अनेकों चोंचें उसने मारीं। परन्तु अन्त में, रावण ने उसे, पंख काटकर, मार गिराया। सीता, रावण को बार-बार धिक्कारती है, कि "अपने क्षत्रियत्व को, क्यों कलंक लगा-रहा है।" रोते-बिसूरते, श्रीराम-लक्ष्मण को याद करते हुए, जिस आकाश मार्ग से वह भगाई जा रही थी, उस पथ में, पथ-प्रदर्शन के लिए, अपने अभूषणों को वह उतार-उतार कर फेंकती जा रही थी। अन्त में, लंका की अशोक वाटिका में जाकर, उसे टिकाया गया। रावण ने अनेकों भांति से उसे समझाया और कहा, "जब तक प्रसन्नता-पूर्वक तू मुझे अपना-न लेगी, मैं तेरे साथ तब तक, बलात्कार नहीं करूंगा। परन्तु मेरे इतना कहने सुनने से भी यदि तू न मानेगी, तो अन्त में तलवार के बल से, मैं तुझे समझाऊंगा।" इस पर, सीता ने बड़ी ही वीरता से उत्तर दिया,

"ऐ चोर! कुलांगार! जीते-जी तो, यह सीता तेरे काबू में होने की नहीं तू, चाहे जितना प्रलोभन इसे दिखा, डरा, धमका; परन्तु न तो यह तुझ से डरने ही वाली है; न तेरी लंका के वैभव ही में यह फँसने वाली है। अपना पतिव्रत-धर्म

इसे प्राणों से भी अधिक प्यारा है। उसकी रक्षा के लिए, अपने प्राणों को यह अपनी हथेली में लिये रहती है। ऐ राक्षस-राज !

"अरे रावण, तू धमकी बताता किसे,
मुझे मरने का खौफ़ खतर ही नहीं !
मुझे मारेगा क्या, अपनी ही खैर मना,
तुझे होनी की अपनी खबर ही नहीं ॥"

राक्षस राज, तेरी इन गीदड़ भभकियों से होने वाला ही क्या ? मुझे मारना अभी दूर रहा। पहले तू अपनी ही खैर मना ! जैसे, जीते-जी सिंह की मूँछों के बाल लेना असम्भव है, जीते-जी भुजग की मणि पाना भी बन नहीं सकता, वैसे ही पतिव्रताओं का सतीत्व भी उनके जीते-जी, कोई उनसे छीन ही कैसे सकता है ! अत यदि तू अपना भावी कल्याण चाहता है, तो जल्दी से-जल्दी तू मुझे अपने प्राणेश्वर के पास भेज दे। जब तक मुझे उनकी खबर न मिलेगी, मैं भोजन को भी ग्रहण न करूँगी। यह मेरी ध्रुव प्रतिज्ञा है।"

उधर, जब श्रीराम, लक्ष्मण के निकट पहुँचे, लक्ष्मण उन से बोले, "भाई ! इस समय, सीता को अकेली छोड़कर, तुम यहा आये ही कैसे ? शीघ्र ही लौट चलो। कोई, छल है। यहा तो विजय हो ही गई।' दोनों भाई लौट कर कुटि पर आये, तो सीता को वहा न पाया। वे बड़े ही दुखी हुए। पड़ौस के प्रत्येक स्थान को छाना, पर सीता का कहीं कोई पता न लगा, जटायु पक्षी, तड़फड़ाय हुआ मार्ग में उन्हे मिला। और इधर-उधर बिखरे हुए सीता के कुछ आभूषण भी। श्री राम ने उन आभूषणों को लक्ष्मण के हाथों सौंप कर कहा, "क्या, भाई। ये गहने सीता के हैं ?" लक्ष्मण बोले, "बन्धुवर ! इन

को मैं जानूं ही क्या ? सीता के चरणों को छोड़, उनके किसी अंग-प्रत्यंग की ओर, मैंने कभी देखा तक नहीं। " पाठको ! देखी, अपनी भावजों के प्रति, उस समय की श्रद्धा और भक्ति ? परन्तु आज का युग विलकुल वदल गया है। देवर लोग, अनेकों प्रकार की कुचेष्टाएँ अपनी भावजों के साथ, आज करते देखे जाते हैं। और, यूं करके, अपने ही हाथों, नर्क का द्वार, वे अपने लिए खोलते हैं। पता लगाते-लगाते, एक दिन श्रीराम को रावण के द्वारा, सीता-हरण का पता लगा। सीता का पता लग जाने पर, हनुमान को लंका में भेजा गया। वे श्रीराम की अँगूठी लेकर, अशोक-वाटिका में पहुँचे। श्रीराम का सन्देश सुना कर, वह अगूठी उसे दी। अपने प्राणनाथ के सन्देश को सुनकर, सीता के प्राण-में-प्राण आया। उसने तभी भोजन को भी ग्रहण किया। उस समय सीता बड़ी ही कृश हो गई थीं। आते समय, सीता की चूड़ी लेकर, हनुमान, श्रीराम के पास पहुँचे। उन्होंने सीता का सारा हाल कह सुनाया। जिसे सुनकर श्रीराम ने वड़ा ही दुख प्रकट किया। और, उसी समय लंका पर धावा वोल दिया। अन्त में, रावण मारा गया। विभीषण को लंका का राज मिला। सीता स-कुशल घर को लौटी। चौदह वर्ष भी, इस समय तक पूरे हो गये थे। श्रीराम, सीता और लक्ष्मण अयोध्या को आये। अब श्रीराम वहां के राजा वनें। कुछ समय तक सभी लोग, बड़े ही सुख-पूर्वक रहे। एक दिन सीता की दाँई भुजा और आंखें फड़कने लगीं। यह देख, सीता भावी अकल्याण की बात सोच कर, घवराई। सीता पर श्रीराम का अगाध स्नेह था। यह देखकर, उसकी सौतें, मन-ही-मन, उससे कुढ़ती रहती थीं। और वे इसी चिन्ता में सदैव लगी रहती थीं, कि श्रीराम का, उस पर से स्नेह किसी प्रकार हट जाये।

एक बार, सौतों ने भोली-भाली सीता को फुसलाकर पूछा, "देवी! रावण कैसा था"? उसने कहा, "बहिनों! एक पतिव्रता नारी, इन बातों को जानती ही क्या है? हां, कभी-कभी वह मुझे डराने धमकाने को आता था, उस समय उसके पैर-मात्रों को मैंने देख पाया था।" सौतों ने सीता को फुसला कर उसके पैरों का चित्र निकलवा लिया। और, अवसर पाकर श्रीराम को वह चित्र उन्होंने बताया। साथ में, यह भी उन्होंने कहा, कि जिस सीता को इतनी पतिव्रता आप समझते हैं, वह तो रावण के चरणों का दर्शन किये बिना, भोजन तक ग्रहण नहीं करती। यूँ कह कर, वह चित्र भी, उन्होंने श्रीराम को दिखा दिया। यह बात सुन और प्रत्यक्ष देखकर, श्रीराम को बड़ा भारी अचरज हुआ। सौतों के साथ, किसी अनबन के कारण, यह बात बनाई गई हो, यह सोच कर, फिर भी उनने उस बात की ओर कोई विशेष ध्यान न दिया।

एक दिन, श्रीराम अपनी प्रजा की वास्तविक स्थिति जानने के लिए, वेष बदल कर निकले। समय, रात का था। जाते-जाते देखा, कि एक धोबी अपनी धोबिन को भली बुरी तरह से डाट-डपट रहा था। और, उसे राड-राड कहकर, मार-पीट रहा था। इस पर, वह कहती जाती थी, कि मुझे राड न कहो। नहीं तो, मैं अपने मायके को चली जाऊँगी। इस पर वह पीछा कहता जाता था, कि तू एक बार नहीं, सौ बार चली जा! मैं तुझे वापस लाने वाला नहीं। मैं कोई राम नहीं, जिन्होंने रावण के घर में रही हुई सीता को, वापस अपने घर में रख ली। धोबी के इन शब्दों ने, श्रीराम की छाती में छेद कर दिया। प्रात काल के होते ही, लोकरंजन के लिए, सीता को उन्होंने सारथी के साथ, एक बयाबान जंगल में भेज दिया। उस सुनसान जंगल में अकेली खड़ी हुई सीता विलाप

करने लगी; और कहने लगी, "हाय ! मैंने पूर्व भव में कौनसे ऐसे अघोर कर्म किये हैं, कि कष्ट, आज तक, मेरा पीछा कर ही रहे हैं। किसी का दोष नहीं। यह सब मेरे कर्मों की विशेषता है। पूर्व भव में, मैंने भी किसी का विछोह किया होगा; या किसी पर कोई कलंक रक्खा होगा। अथवा नहीं तो, हिंसा, झूँठ, चोरी आदि पाप करके, प्रसन्नता प्रकट की होगी। उसी का यह प्रत्यक्ष फल है हाय ! गर्भ के पूरे दिन होते हुए भी यह कष्ट ? यूँ, भांति-भांति से अपने भाग्य को कोसती हुई, सीता अकेली उस जंगल में, फल-फूल, और कन्द-मूल खाकर, अपना जीवन विताने लगी।

गर्भ का समय पूरा होने पर, सीता की कोख से दो पुत्र रत्न उत्पन्न हुए। जिन का नाम लव और कुश रक्खा गया। उन्हें ले कर, सीता अपने मायके में पहुँच गई वहां बड़े ही प्रेम और देख-रेख के साथ, लव कुश का लालन-पालन और शिक्षा का प्रबन्ध हुआ। एक दिन, खेल-ही-खेल में, बालकों ने लव-कुश को कह बताया, " तुम्हारे पिता का तो कोई पता ही नहीं ! तुम किन की सन्तान हो ! व्यर्थ ही में गाल बजा रहे हो ? " बालकों के ये बोल, उन्हें तीर के समान लग गये। लपक कर, वे अपनी माता के निकट आये; और पिता का नाम-धाम पूछने लगे। सीता ने कहा, " बेटो ! तुम्हारे पिता, अयोध्या के महाराज श्रीरामचन्द्रजी हैं। मुझ निर्दोषिनी को उन्होंने वनवास दे दिया था। " बालकों ने, उसी समय, युद्ध की मन में ठानी। और, अपने नाना की सारी सेना ले कर, अयोध्या पर चढ़ दौड़े। अयोध्या के निकट जाकर, दूत के हाथ उन्होंने कहला भेजा, " रावण विचारे को तो तुमने धर दबोचा। अब रणस्थल में आकर, हम क्षत्रियों का भी रण-कौशल ज़रा देख लो ! और, अपने क्षत्रियत्व का परिचय

दो।" श्रीराम यह सुन कर, बड़े ही चिन्तित हुए, कि यह फिर कौन शत्रु जागा। श्रीराम ने भी युद्ध की तैयारी की। अब दोनों सेना मुठ-भेड़ के लिए, मैदान में आ डटीं। अस्त्र-शस्त्रों को उपयोग किया गया। परन्तु एक दम बेकार रहा। वे चले तक नहीं। बड़ी-बड़ी तोपों के गोले, गड़गड़ाहट कर के, वहीं-के-वहीं अटक रहे। अन्त में, श्रीराम ने चक्र चलाया, परन्तु वह भी अपने आत्मजों पर चल ही न सका। यह देख, श्रीराम के होश-हवाश खट्टे हो गये। वे सोचने लगे, "अब गया राज्य अपने हाथों से! ये दो बालक, न जाने किन के वंशज हैं! जिस चक्र के ऊपर, मैं नाच रहा था, उस ने भी कोरा-सा उत्तर दे दिया! अब रह ही क्या गया!"

उसी समय, नारदजी भी घटना स्थल पर आ पहुँचे थे। श्रीराम ने सारा हाल, उनसे पूछा। उत्तर में, नारदजी बोले, "राज्य, इन का और इन के बाप का है।"

श्रीराम—ऋषिवर! यह बोल क्या रहे हो!

नारद—मैं, सूर्य में प्रकाश की भाति, सत्य कह रहा हू। ये आप के पुत्र हैं और सीता-देवी इन की माता है।

श्रीराम—यदि बात ऐसी है, तो फिर युद्ध कैसा? चलें, उन से मिलें।

नारदजी ने उधर पहुँच कर, पिताजी के आने का सन्देश सुनाया। यह सुन कर, दोनों वीर बालकों ने अस्त्र-शस्त्रों को, अपने हाथों से नीचे पटक दिया। और, सामने आते हुए पिताजी की ओर बढ कर, उनके चरणों में, दोनों-के-दोनों बालक, गिर पड़े। श्रीराम ने उठा कर कंठ से लगाया। सीता को प्रेम पूर्वक लाने की आज्ञा दी गई। आज्ञा पाकर वह शीघ्र ही वहां आई। अपने पति के चरण-दर्शन कर, अपने भाग्य को वह सराहने लगी। नगर प्रवेश के लिए उसे कहा

गया। इस पर सीता ने कहा, " मुझे इस में कोई आपत्ति नहीं। परन्तु लोकापवाद तो वैसा ही बना रहेगा। अतः मैं अग्नि-परीक्षा देकर ही, अयोध्या में पैठूंगी। " तदनुसार, अग्नि का विशाल कुंड तैयार करवाया गया। अपार मानव-गण देखने के लिए आये। सीता ने कहा, " अग्नि ! यदि श्री राम को छोड़, स्वप्न में भी, किसी पर-पुरुष का ध्यान, मैं ने कभी किया हो, तो आप मुझे भस्म कर दें। " यह कहती हुई, सीता उस कुंड में कूद पड़ी। सीता निर्दोषिनी और निष्कलंकिनी थी। उस के शील के जबर्दस्त प्रभाव से, वह जाज्वल्यमान अग्नि, चन्दन के समान शीतल हो गई। देवों ने फूल बरसाये। आकाश-मंडल जयघोष से गूंज उठा। सभी ने सीता के सत्य और शील-व्रत को सराहा। आदर के साथ, सीता का नगर-प्रवेश हुआ। कुछ ही दिनों के पश्चात्, इस संसार की असारता को देख, आत्म कल्याण की इच्छा से, सीता-देवी ने दीक्षा ग्रहण कर ली। और, तप तथा संयम की साधना कर के, अन्त में, वह स्वर्ग में सिधारीं। लव कुश को राज्य सौंप कर, अन्त में, श्रीराम ने भी आत्म-कल्याण किया

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] कैकई के कष्ट-निवारण के लिए, मन्थरा ने उसे कौन-सा उपाय सुझाया ?

[२] सीता और रावण के संवाद को थोड़े में कहो।

[३] तब और अब के भाइयों के स्वभावों में अन्तर दिखाओ।

[४] सीता को अपनी सिधाई के कारण, कौन-कौनसी आपदाएँ सहनी पड़ीं ?

[५] "श्रीराम, एक आदर्श राजा थे। उन्हें लोक-रंजन का सदा-सर्वदा पूरा-पूरा ध्यान रहता था।" कैसे ? उदाहरण देकर समझाओ।

[६] लव-कुश और श्रीराम की सेनाओं में, जो रक्तपात होने ही वाला था, वह अचानक कैसे रुक गया ?

[७] सीता ने अपने सतीत्व का परिचय कैसे दिया ?

५ राजीमति



जीमति, जूनागढ़ के महाराज, उग्रसेन की पुत्री थी। यह अपने समय की बड़ी ही अनुपम रूप-सुन्दरी थी। कृष्ण महाराज ने, इसी के साथ, नेमिनाथ का विवाह कर देने की बात-चीत, उग्रसेन से की। इस पर, "आपकी इस बात मे मुझे कोई आपत्ति नहीं है; तब भी शर्त यह है, कि आप बारात लेकर यहा आ सकें,' उग्रसेन ने कहा, कृष्ण महाराज ने इस शर्त को सप्रेम स्वीकार कर लिया। शुभ मुहूर्त में, नेमिनाथजी को बनड़ा बनाया गया। और, वर-निकासीकी। उधर, राजीमति के शरीर पर भी हल्दी चढ़ाई गई। जूनागढ़ के राज-महलों में, चारों ओर खूब ही रंगरेलिया मचीं। राजीमति के विवाह के शुभ अवसर पर, सभी प्रकार के लोगों को, निमन्त्रण भेजा गया। आनेवाले लोगों में से, कुछ मासाहारी भी थे। उनके लिए, रसद के रूप में, पहले ही से, सब प्रकार के जीव-जन्तुओं को मंगा-मगा करके, पींजरों में रक्खा गया। बारात विदा होकर, अभी जूनागढ़ पहुँची भी न थी, कि बीच ही में, इन्द्र ने एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण करके, विघ्न

डाला। वह, जहां कृष्ण महाराज और नमिनाथ थे, वहां पहुँचा। और बोला, "क्या, महाराज, नमिनाथजी के विवाह के लिए पधार रहे हैं? परन्तु ये लग्न निकाले किसने हैं? मेरी समझ में तो, इन लग्नों पर, इनका विवाह, किसी भी प्रकार से हो नहीं सकता।"

कृष्ण महाराज—"ब्राह्मण देवता ! यहां, पंचायत करने के लिए, तुम्हें बुलाया किसने था? बड़ी कठिनाई से तो, हम लोगों ने, नमिनाथजी को, विवाह के लिए उतारू किया; और ऊपर से, तुम अलग ही रोड़ा अटकाने को आ गये।"

ब्राह्मण—महाराज ! आप राजी हों, या नाराज़, इन लग्नों पर तो, इनका विवाह कभी होगा नहीं।"

कृष्ण महाराज—चल-चल छोड़ रास्ता यहां से ! आ गया बीच ही में, 'मान-न मान, मैं तेरा मेहमान' बनने को !

"अच्छा, देख लेंगे हम भी ! विवाह लाना इन्हें ! कहीं ऐसा न हो, कि मूल की पूंजी भी गांठ से गंवा बैठो !' कहते हुए, ब्राह्मण देवता चलते बने।

यह बात सुन कर, कृष्ण महाराज के विचारों में, भयंकर भूकम्प-सा आ गया। अभी वहां से वे कुछ ही आगे बढ़ेथे, कि नमिनाथजी की निगाह, एक-दम, मार्ग के उसी स्थान पर पड़ी, जहां उनके विवाह के निमित्त आये हुए मांसाहारियों के लिए, वध्य पशु ला कर रक्खे गये थे। वे रक्षा के हित, बाहर की ओर, अपना मुँह लटकाये हुए थे, और अपनी मूक भाषा तथा भावों में, दर्शकों से प्रार्थना कर रहे थे, कि वे वहां से किसी भी तरह उन्हें मुक्त करवादें। उसी समय, नमिनाथजी ने अपने सारथी से रथ को रोक देने के लिए कहा। और, उन पशुओं के सम्बन्ध में पूछ-ताछ करने पर जान पड़ा, कि

इन के वध का एक-मात्र कारण, नमिनाथजी ही है । तब तो, उन की काया काप उठी। वे रथ से एक दम नीचे कूद पड़े। और, पशुओं के उस वाड़े का दर्वाजा खोल दिया। जिससे वे उसी समय, सब-के सब, उनकी ओर, बड़े ही उपकार की दृष्टि से देखते हुए, वन की ओर भाग निकले। इस सूचना के लिए, सारथी को एक कटि-भूषण के साथ, कई बार बधाइया उन्होंने दी। साथ ही, वे वहा से, उलटे पैरों लौट पड़े। कृष्ण महाराज ने लाख-लाख भांति से उन्हें समझाया और मनाया। पर नमिनाथजी अपने निश्चय से एक इंच-भर भी इधर-उधर न हुए। तब तो कृष्ण जी को उस ब्राह्मण का कथन याद आया। जूनागढ़ मे, इस सन्देश के पहुँचते ही, सारा आनन्द मुरझा गया। और,राजमहल में एक बड़ा भारी तहलका-सा मच गया। फिर भी, आये हुए लोगों के कहने-सुनने से, राजा ने यह सोच कर, कि—"चलो अभी तो कुछ भी बिगड़ा नहीं। दूसरे योग्य वर की तलाश करली जावेगी' अपने दिल को दिलासा दी। उसी समय, राजीमति स्नान कर के, आभूषण सजा रही थो। उतने ही में एक दासी दौड़ कर आई। और, जो घटना घटी थी, उसका सारा हाल, उसे कह सुनाया। उसे यह भी साथ में कहा, " बाईजी ! चलो, जो भी हुआ, अच्छा ही हुआ । क्योंकि, नमिनाथजी काले थे। आप के रूप की तुलना में वे पासग भर भी न थे। अब, आप के पिता, भी, किसी योग्य वर की तलाश आप के लिए करेंगे।

राजीमति—" (डपट कर दासी से बोली)—बस, अब अधिक न बोल। छोटे मुँह से बड़ी बात नहीं शोभती। मेरे लग्न तो, उनके साथ, उसी घड़ी हो गये थे, जब मेरे लिए, वर के स्थान पर उन्हें चुना था। सती-साध्वी नारियों के लिए

तो, 'तिरिया तेल, हमीर हठ, चढ़ै न दूजी वार' ही की बात होती है। वे अपने पतियों की छाया-रूप होती हैं। तब तो, जो गति उनकी, वही मेरी भी होनी ही चाहिए। यदि आत्म-कल्याण की ओर उन्होंने कदम बढ़ाया है, तो मेरा भी कर्तव्य है, कि मैं भी उसी ओर बढ़ूँ" दासी को यूँ, कह-सुनकर, वह माता के पास आ बोलीं,—

अम्मा ! मुझे चल करके दीक्षा दिला दे ।
दीक्षा दिलादे, शिक्षा दिलादे !
हां, मुझे गिरनार की राह दिखादे ॥ टेक ॥

कंगन को तोड़ूं जरा, बेसरको मोड़ूं !
हां, मुझे वैराग की साड़ी रंगा दे ॥ १ ॥

संसार का नाता झूठा है माता !
हां, मुझे मुक्ति के मार्ग लगा दे ॥ २ ॥

मां ! अब, उतार कर फेंकती हूँ, मैं, विवाह की इस वेश-भूषण को ! और, जाती हूं आत्म-कल्याण के लिए ! यूँ, कह-सुनकर, वह तो उसी समय साध्वी बन गई। उन दिनों, राज-रानियां भी दीक्षा धारण करती थीं। अभी कुछ ही समय के पहले, राजा मुंज की धर्म-पत्नी, कुसुमावती ने भी दीक्षा धारण की थी। धार-राज्य के इतिहास के पन्ने, इस बात की गवाही दे रहे हैं।

एक दिन, सती राजीमति, विचरण करते-करते, गिरनार की पहाड़ियों के निकट से गुजर रही थी। अभी निकट के गांव में पहुँचने भी न पाई थी, कि इतने ही में वर्षा ने आ घेरा। उसके सारे कपड़े भींग गये। तब तो पड़ौस की एक गुफा में पहुँच कर, वह अपने कपड़े सुखाने लगी। वहां रहनेमिजी ध्यान-

(नोट—नेमिनाथजी और रहनेमजी पृथक्-पृथक् व्यक्ति थे।)

मग्न बैठे हुए थे। जब उनकी समाधि टूटी, तो राजीमति को अपने से कुछ ही दूरी पर, उन्होंने देखा। सती के रूप सौन्दर्य को देखकर, उनका मन डावाडोल हो गया। वे अपनी भोग-विलास की लिप्सा को पूरी करने के लिए, लालायित हो उठे। और, सती के साथ, अटसट वार्तालाप करने लगे। सती ने यह सुनकर, खूब ही आड़े हाथों उन्हें लिया। वह बोली, "ऐ कामी! तुम तो हो ही किस बाग की मूली! यदि इन्द्र भी आकर, मुझसे अपने संयम को छुड़ाना चाहे तब भी, मैं अपने मार्ग से, एक तिल भर भी विचल कभी नहीं हो सकती! भोगों को छोड़ कर, पुन उनका सेवन करना, यह तो वमन किये हुए का चाटना है, जो कुत्ते और कौओं का काम है! मनुष्यों का काम तो यह कदापि नहीं। अब कुल, जाति और पद का, जरा, स्मरण करो।" सती की इन कटूक्तियों से, रहनेमिजी के होश-हवाश खट्ट हो गये। वे अपने संयम के मार्ग में मुड पड़े। और, आत्म-पश्चात्ताप करके, सती से क्षमा चाही।

अन्त में, सती ने अनेकों वर्षों तक, संयम और शील का पूरा-पूरा पालन करके, अपने आठों घनघाती कर्मों का एकान्त अन्त कर दिया। और, मोक्ष में पधारीं। देवी! तुम्हारा आदर्श चरित, महिला-समाज के लिए, कोहेनूर हीरे के समान चमकता रहेगा। तुम्हारे बताये हुए आदर्श पथ पर लग कर, महिलाओं का सिर सदा उन्नत रहेगा।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

(१) नेमिनाथजी का मन विवाह से क्यों उचट गया?

(२) 'सती नारी, अपने पति की छाया होती है।' राजीमति ने इस कथन को कहां तक निभाया?

(३) राजीमति ने, रहनेमिजी को सुपथ पर कैसे लगाया?

६ द्रौपदी



वर्तमान् काल का देहली नगर, जिसका प्राचीन नाम हस्तिनापुर अथवा इन्द्रप्रस्थ था। इसमें वाइसवें तीर्थंकर, श्री अरिष्टनेमि स्वामी के समय में, पांडव लोग राज करते थे। उनकी रानी का नाम था द्रौपदी।

एक वार, पांडवों ने अपनी राजधानी में महोत्सव किया। उस महोत्सव के लिए, मंडप की रचना, एक वड़े ही निराले ढंग से की गई। फ़र्श में सर्वत्र पन्ने जड़ाये गये। जिसे देखकर, दर्शकों के मन में पानी का भ्रम हो आता था। जो भी व्यक्ति उसे देखने को आता, चकित हुए विना न रहता। महोत्सव में देश-विदेशों के सभी वड़े-छोटे नरेशों को आमन्त्रित किया गया था। धृतराष्ट्र, दुर्योधन, दुःशासन, आदि भी उस समय वहां आये थे। उनके आगमन के समय द्रौपदी, मंडप के पास के एक प्रसाद के झरोखे में वैठी हुई, उन्हें देख रही थी। जव दुर्योधनादि ने मंडप में प्रवेश करना चाहा, उनकी दृष्टि, सवसे पहले, पन्ने के फर्श पर गिरी। वहां उन्हें पानी का भ्रम हुआ। तव तो गीले हो जाने के डर से,

उन्होने अपने वस्त्रों को ऊँचा उठाकर सभालना शुरू किया । इस पर, द्रौपदी खिलखिला कर हँस पड़ी और बोली, "आखिरकार, सन्ताने तो ये अन्धे ही की हैं न ? वपौती का गुण, विरासत में इन्हें मिलना चाहिए ही था । इसीलिए तो, इन्हे पन्ने के फर्श में पानी का भ्रम हो रहा है।" द्रौपदी के इन शब्दो ने दुर्योधन के हृदय को चलनी चलनी बना दिया । उन के तन-बदन मे आग-आग फुँक गई । उत्सव का आनन्द हराम हो गया। अब तो खाते-पीते, उठते बैठते, चलते-फिरते, बस, एक ही धुन उनके सिर पर सवार हुई, कि द्रौपदी से, उनके इस घोर अपमान का बदला, किसी न-किसी रूप में अवश्यमेव चुकाया जाय । जहा इच्छा होती है, वहा साधन भी कोई-न-कोई आकर मिल ही जाता है । कहा भी है, "जिन खोजा, तिन पाइयों, गहरे पानी पैठ।" सोचते सोचते दुर्योधन को एक राम-बाण नुस्खा मिल गया । उसने कहा, पाडवों को जूआ खेलने का बड़ा भारी शौक है । बस, इसी जूए में, इन्हे पराजित करके, द्रौपदी को, न्याय या अन्याय से, अथवा धर्म से या अधर्म से, किसी भी प्रकार, अपने अधिकार में किया जाय । फिर तो, उसे अपने इस घोर अपमान का मज़ा, हम भली-भाति चखा देंगे। इस युक्ति का, उसके सभी साथियो ने एक स्वर से अनुमोदन और समर्थन किया । आखिरकार, ऐसा ही हुआ । और, पाडवों को जूआ खेलने के लिए राज़ी किया गया ।

पाडव सीधे-सादे थे । थोड़े में यूँ कहो, कि वे सद्गुणो की खदान थे । दुर्गुण, उन के पास कभी फटक कर भी नहीं निकल पाये थे । इस के विपरीत दुर्योधनादि कौरव, उसी मात्रा में मक्कार, फरेबी, और दुर्गुणी थे। सीधापन कभी-कभी घातक हो जाता है । अपनी सिधाई से, पाडव लोग,

जूए में हार गये। उन का राज-पाट तथा धन और धरती, सब-के-सब छिन गये। यदि यह मामला यहीं जाकर समाप्त हो रहता, तो भी अधिक हानि नहीं कही जा सकती थी। परन्तु हार का परिणाम इस से भी सैकड़ों गुना भयंकर हो गया। उन्होंने अपनी प्राण-प्यारी, द्रौपदी तक को बाजी पर रखदी; और उसे भी वे हाथ से खो बैठे। यही नहीं, वचन-बद्ध हो कर, पूरे बारह वर्ष का बनवास, और एक वर्ष का अज्ञातवास भी उन्होंने भोगा। अपनी इस सिधाई और सचाई ही से, सब प्रकार के बल और पौरुष के स्वामी होते हुए भी, अपने सामने, द्रौपदी के चीर-हरण का कठोरतम अपमान उन्हों ने सहा। और भी न जाने, कौन कौन से अन-होने रूप बना कर, अपने अज्ञातवास का समय, राजा विराट् के यहां काटना पड़ा। पांडवों के इस प्राण-हरण फज़ीते से, क्या, अब भी हम लोग यह पाठ नहीं सीखते, कि आततायियों और अन्यायियों के साथ, नीतिमत्ता और सदाचार का व्यवहार करना, निरी मूर्खता, और भोंदूपन ही नहीं, वरन् घोर पाप भी है ? जिस का प्रायश्चित्त, सर्वस्व को हाथों से खो कर, और प्राणघातक अपमान सहते हुए, करना पड़ता है।

द्रौपदी को दांव पर लगा कर, पांडव उसे हार गये। दुर्योधन की मनचीती हुई। उसने, उसी क्षण, अपने भाई, दुःशासन को हुकम दिया, कि "अपने लोगों की खिल्ली उड़ा-कर, अपना घोरतम अपमान करनेवाली, उस रंडा द्रौपदी को पकड़ लाओ। और, इस भरी सभा में, उसे नंगी करके, मेरी जंघा पर ला बिठाओ। क्यों कि, यहां तो सब-के-सब अन्धे ही अन्धे हैं! देखनेवाला है ही कौन ?" दुःशासन ने चट वैसा ही किया। पांडव, इस दुर्घटना को, खड़े-खड़े अपनी आंखों से देखते रहे। किन्तु अपने सदाचार के कारण वचन-

वद्ध होने से, वे विवश थे। जूए में वे अपना सर्वस्व हार चुके थे। इस कठोरतम सकट के समय, अपनी लाज की रक्षा का कोई उपाय न देख, द्रौपदी ने एक-मात्र दीन-बन्धु अशरण-शरण भगवान् ही की शरण ग्रहण करना उचित समझा। उसने अन्त करण की गुहार से भगवान् को पुकारा, " भगवन् ! सीता और अजना-जैसी महा सतियों के कष्टो को जब आप ने काटा है, तब क्या, मुझ अभागिनी की रक्षा आप न करेगे ? अभी, आप के सिवाय, मेरी रक्षा करने की सामर्थ्य, ससार के किसी भी पुरुष में नहीं। " द्रौपदी की इस करुण गुहार के भावो को, कवि ने यूँ दिखाया है।

[तर्ज—जो आनद-मगल चाहो रे]

मैं तो आई शरण तुम्हारो रे, प्रभु ! कीजे मेरी सहाय ॥ टेर ॥
सती द्रौपदी रानी, ग्रही दुष्ट दुशासन तानी।
फिर लाया सभा मझारी ॥ प्रभु० ॥ १ ॥
सती देखे निगाह पसारी, फिर छूटी आसू-धारी।
अरु काप रही उस वारी रे ॥ प्रभु ॥ २ ॥
कहत दुर्योधन ललकारी, लो तन से चीर उतारी।
अब कर दो इसे उघारी रे ॥ प्रभु० ॥ ३ ॥
सती बोले, करी पुकारी, मेरी नाव पड़ी मँझधारी।
अब कौन लगावे पारी रे ॥ प्रभु० ॥ ४ ॥
है पाडु-सुत वलकारी, पर वैठे समता धारी।
ये गये दांत में हारी रे ॥ प्रभु० ॥ ५ ॥
तुम राखो पत गिरिधारी, मुझ गउ को देउ उवारी।
जो आज भई निरधारी रे ॥ प्रभु० ॥ ६ ॥
जो हो सत शील सहाई, तो कीजो रक्षा आई।
क्यों देरी मेरी वारी रे ॥ प्रभु० ॥ ७ ॥

अधमों ने चीर उतारा, पर नहिं आया वह पारा ।
हुआ ढेर चीर का भारी रे ॥ प्रभु० ॥ ८ ॥
कहे 'चौथमल' हितकारी, सुर बोले जय-जयकारी ।
यह सत की महिमा जारी रे ॥ प्रभु० ॥ ६ ॥

यूँ, जब द्रौपदी ने, श्री कृष्ण और शील-रक्षक देवों के आगे, अपनी करुणा-पूर्ण कथा का वर्णन किया, तब तो उसी क्षण, द्रौपदी का चीर अकथक-रूप से बढ़ गया। दुष्ट दुःशासन ने जितना ही अधिक चीर को खींचा, उतना-ही-उतना वह बढ़ता गया। अन्त में, जब चीर को खींचते-खींचते वह हार गया, तब विवश होकर वह बोल उठा।

"नारी बीच सारी है, कि सारी बीच नारी है।
नारी ही की सारी है, कि सारी ही की नारी है॥"

सत्य की जय हुई। देवों ने द्रौपदी के पक्ष में विजय-दुन्दुभी बजाई। किन्तु पांडव राज्य को हार चुके थे। वे कृष्ण महाराज के पास पहुँचे। और, द्यूत-क्रीडा में, आदि से इति तक, जैसे वे अपने सर्वस्व को खो बैठे, सारा वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया।

बदले में, श्रीकृष्ण महाराज बोले, "द्यूत-क्रीडा अर्थात् जूआ खेलने का काम मनुष्यों का नहीं। इससे धन, धर्म, और इज्जत, सभी चौपट्ट हो जाते हैं। खैर, जो हुआ-सो-हुआ। 'बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेउ।' तुम और कौरव, परस्पर भाई-भाई हो। यदि राज्य उनके पास रहे, तो इसमें हानि ही कौन-सी है? राज्य के कारण, अचानक आने-वाली कितनी ही आपदाओं से, अनायास ही, तुम्हें छुट्टी मिल जाती है। किन्तु हां, तुम्हारे भरण-पोषण के लिए, मैं प्रयत्न करूँगा, कि वे, कम-से-कम, पांच गांव तो तुम्हें अवश्य ही दे

द। तव तो वे स्वय ही मध्यस्थ वन कर, कौरवों के निकट गये, और पाडवों को, कम से कम, पांच गाव दे देने की वात छेड़ी। इस पर, वे लोग खूब ही विगडे और वोले, "पाच गाव कहते किसे है? विना युद्ध के, अव, एक सूई की नोक के वरावर भी भूमि, उन्हें मिल नहीं सकती! श्री कृष्ण इस मामले में समझते ही क्या है!"

कौरवों का यह कमीना व्यवहार, श्री कृष्णचन्द्र को वडा ही अखरा। श्रीकृष्ण शूर थे, वीर थे, अपने समय के वेजोड़ राजनीतिज्ञ थे। वे कह कर नहीं, वरन् करके दिखाना जानते थे। पाडवों के पास आकर वे अपनी भुजाओं को फटकार कर, गर्जते हुए वोले, "भीख माग कर भूमि लेना, यह तो चारण और भाटों का काम है। पाडव, सर्व-गुण सम्पन्न हैं। उन्हें, अव, अपनी इस नीति को वदल कर, अपनी तलवार का कुछ जौहर जगत् को वतला देना होगा।" वस, श्रीकृष्ण के इसी आदेश की आवश्यकता थी। पाडवों ने कमर कसी। उन्होंने कौरवों को रण-निमन्त्रण दे भेजा। दोनों ओर की असख्य सेनाएँ, रणागण में आ डटीं। घमासान युद्ध हुआ। लाखों वीर खेत रहे। अन्त में, भीम और दुर्योधन के वीच, भीषण गदा-युद्ध हुआ। भीम की यह ध्रुव प्रतिज्ञा थी, कि "दुर्योधन की उस जंघा को, जिस पर वह द्रौपदी को विठा देना चाहता था, यदि न तोड़ दू, यदि उसे चकनाचूर न कर दू, तो मै, अपने को, आज से, 'पाडु-पुत्र' कहलाना छोड़ दूंगा।" भीम ने अपने प्रण को आदि से अन्त तक, ठीक वैसा ही निभाने की कोशिश की, और अन्त में जीत उसी की हुई। विजय-लक्ष्मी ने महान् चतुर और सर्व गुण-सम्पन्न पाडवों ही को वरा। वे फिर से हस्तिनापुर में धर्म-राज करने लगे। द्रौपदी, पट-रानी वनी। और, कौरवों ने मुँह की खाई।

एक दिन, जब द्रौपदी, सुख शय्या पर बैठी हुई थी, नारद जी वहां आये। उसने उनका उचित सत्कार नहीं किया। इस पर नारदजी क्रोधित हो गये। वे उसी समय वहां से चल दिये। और, धात्री-खंड के अन्तर्गत अमर-कंखा नामक राजधानी में पहुँचे। उन दिनों वहां का राजा पद्मनाभ था। नारद जी ने उसे द्रौपदी का चित्र-पट दिखलाया। उस की सुन्दरता को देख, राजा ने द्रौपदी को अपने राज-भवन में लाने का निश्चय किया। उसी समय, उसने अपने इष्टदेव का स्मरण किया। देव आये। राजाने उनसे, द्रौपदी को, अपने राज-महलों को ला देने की प्रार्थना की। इस पर देव बोला, "द्रौपदी को? और, तुम्हारे राज-महलों में? उसे अपना सत्य-शील, प्राणों से भी अधिक प्यारे है। जिसे, वह पांडवों को छोड़, किसी के हाथ बेच नहीं सकती। फिर भी, तुम्हारे अनुनय-के कारण, मैं उसे यहां लिये आता हूं। परन्तु स्मरण रक्खो, कि वह, बात-की-बात में, अपने प्राणों को भले ही दे दे; परन्तु अपने सत्य-शील को तो खण्डित कभी न करेगी।"

यूँ कह, वे देवता वहां से चल पड़े; और, हां कहते में, हस्तिनापुर जा पहुँचे। उस समय द्रौपदी एक पलंग पर सोई हुई थी। उसे देव ने पलंग-समेत उठा लिया; और अमर कंखा के बाग में जा उतारा। सूर्योदय के होते ही जब द्रौपदी जागी अपने-आप को तब उसने एक अपरिचित स्थान में देखा। वह घबरा उठी, और सोचने लगी, "मैं यहां आई तो कैसे? कौन मुझे यहां लाया? और, वह ले कब आया?" इतने ही में, राजा पद्मनाभ वहां आ पहुँचा। उसने उसे अपनी पटरानी बनाने के लिए अनेकों प्रकार के प्रलोभन दिखाये। साथ ही में, यह भय भी उसने दिखाया, कि यदि वह, राजा की बात को मानने के लिए राजी नहीं है, तो अब वह समुद्र-

पार के इस देश से, अपने नगर हस्तिनापुर को तो, जा ही कैसे सकती है ? और, उस का पता लगा कर, लेने के लिए भी, उसे, यहा आही कौन सकता है ? अत इसी बात में, उस का, अब, भावी कल्याण है, कि वह राजा की बात को प्रसन्नता पूर्वक मान ले। द्रौपदी ने राजा पद्मनाभ को, उस की ऐसी मनोवृत्ति पर, अनेकों प्रकार से डाटा-डपटा और दुत्कारा। वह बोली, " अरे नीच ! नराधम ! लम्पटी ! मेरे कान तो क्या, तेरी बात सुनने के लिए, मेरा एक रोम तक राजी नहीं। तू, यदि अपना भला चाहता है, तो जल्दी-से-जल्दी, मेरी आखों के आगे से हट जा ! " राजा ने सोचा, नारिया, पाछमती होती है। आज नहीं, तो कल, आखिरकार, मेरी बात, इसे माननी ही पड़ेगी। न मानेगी, तो करेगी भी क्या ? और, जायेगी भी कहा ? तथा कैसे ?" यूँ , सोचते-विचारते, राजा तो वहा से चल दिया। उधर द्रौपदी ने आ-य-म्बिल व्रत करना प्रारम्भ कर दिया।

उधर, रातों-रात मे, द्रौपदी के अचानक गायब हो जाने के कारण, हस्तिनापुर में भारी कुहराम मच गया। शहर का कोना-कोना छनवाया, अड़ौस-पड़ौस के जलाशयों को ढुंढवाया, पहाड़ और वन प्रदेशों की गली-गली ढुंढवा डाली, परन्तु द्रौपदी का कहीं कोई पता न चला। जब सारे प्रयत्न, सिर-से पैर तक एकदम बेकार हो गये, तब पाडवों की माता, कुन्ती देवी, अपने भतीजे, श्री कृष्णचन्द्र के पास पहुँची। द्रौपदी के, महलों से अचानक गायब हो जाने की, सारी बात उन्हें कही। इस पर, श्रीकृष्ण ने उसे ढाढ़स बँधाया, और कहा, " भूआजी ! अब, आप निश्चिन्त हो रहिये। द्रौपदी को ढूँढ कर अब मैं लाता हूँ। "

इतने ही में, नारदजी श्रीकृष्णजी के पास आये। श्रीकृष्ण-

चन्द्रजी ने उन्हें भक्ति पूर्वक प्रणाम करके पूछा, "ऋषिवर! आपकी गति सर्वत्र है। कहीं, द्रौपदी को भी आपने देखा है?"

नारद-ऋषि—हां, उसी के समान एक स्त्री को, मैंने, धात्री खंड के अमर कंखा नामक नगर में देखा है।

श्रीकृष्णचन्द्र—क्या, इसमें, आप की तो कोई करामात नहीं हुई?

इस पर, नारदजी हँस कर वहां से चलते बने। श्रीकृष्ण नारदजी के मन की ताड़ गये। उसी समय, श्रीकृष्ण ने पांडवों को अपने साथ लिया; और लवण-समुद्र के किनारे पर आकर लवणपि नामक देवता की आराधना आरम्भ की। उनकी आन्तरिक आराधना से देव ने तत्काल ही प्रसन्न होकर, समुद्र का मार्ग उनके लिए खोल दिया। उसी समय, पांडवों को साथ ले, श्रीकृष्ण ने समुद्र को पार किया। और अमर-कंखा के पास जा पहुँचे।

जब पद्म नाभ ने यह बात सुनी, तो सेना लेकर, वह भी उनके सन्मुख आता हुआ दिख पड़ा। पांडवों ने तब श्रीकृष्ण जी से कहा, "प्रभु! अभी आप यहीं ठहरिये। पहले हम्हीं लोग, राजा से युद्ध करने को जाते हैं। जब आप हमे हारते देखें, तब आप पधारिये। श्रीकृष्ण ने ऐसा ही किया। पांडव युद्ध के लिए आगे बढ़े। परन्तु पद्मनाभ की सेना का बल बहुत अधिक था। पांडवों के पांव उसके आगे टिक न सके। यह देख, श्रीकृष्णजी उनकी सहायता के लिए लपक पड़े। वहां पहुँचते ही श्रीकृष्ण ने अपने धनुष की टंकार की। उसके भयंकर घोर गर्जन से, शत्रु-दल के पैर उखड़ पड़े। आंधी से अधिक सेना तितर-बितर हो गई। यह देखकर, पद्मनाभ के बढ़ते हुए उत्साह पर, बात-की-बात में, पानी फिर गया। वह

अपने महलों में जा छिपा। अब, श्रीकृष्ण ने सिंहनाद किया। उसके भयंकर नाद से शहर-पनाह ढह पड़ा। महलों के झरोखे टूट पड़े। बस्ती में एक भयंकर भूकम्प-सा आ गया। इस आकस्मिक आपदा को आई देख, पद्मनाभ की आखे खुलीं। वह मन-ही-मन बोला, यदि शीघ्र ही सन्धि न कर ली गई, तो प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। यूँ, सोच विचार, भींगे कपड़े पहन, द्रौपदी को साथ ले, वह श्रीकृष्ण की शरण में आया। तब श्रीकृष्ण ने उसे अनेकों भाति से आड़े हाथों लेकर कहा, "इस प्रकार, यदि तू सामने न आया होता तो मैं तुझे समुचित दण्ड देता। अरे लम्पट! दुराचारी! तू, प्रजा का रक्षक कहला कर, उसका इस तरह भक्षक बनता है? राजा, प्रजा का पिता कहलाता है। परन्तु तू तो, गली के कुत्ते की भाति, पराई नारियो को, पराई मा और बहिनों को पाप की निगाहों से ताकता फिरता है! पापी! क्या, यह तेरा सबसे पहला धर्म और कर्त्तव्य नहीं है, कि पराई मा, बहिन, पत्नियों, और बालिकाओं को, तू अपनी मां, बहिन, और बालिकाएँ समझे? नराधम! तू आततायी है, अन्यायी है। तेरा अपराध अक्षम्य है। फिर भी तू शरण मे आया है। शरणागत को मारना तो, और भी पाप है। यही सोचकर, मैं तुझे क्षमा करता हूं, और अभयदान देता हूं।" यूँ, उसे प्राण-दान दे द्रौपदी को साथ लिये, पाडवों समेत, श्रीकृष्ण शंखनाद करते हुए लौट रहे थे, उसी समय, उनके शंख की ध्वनि, उसी खंड के, कम्पिल वासुदेव के कानों में पड़ी। उसने मुनिसुव्रत भगवान् से पूछा, "भगवन्! यह शंख-नाद किसने किया? मेरे समान शंख को बजानेवाला यह दूसरा कौन प्रकट हुआ है?" उत्तर में मुनिसुव्रत स्वामी ने कहा, "तुम्हारे ही अधीनस्थ, राजा पद्मनाभ ने जम्बू द्वीप के भरतखंड से द्रौपदी को हरण करवा के मंगवा

ली थी। उसी द्रौपदी को लेने के लिए, वहां के वासुदेव, श्री कृष्णचन्द्र यहां आये हुए थे। उसे लेकर, वे वापिस लौटे, और यह शंख-ध्वनि भी उन्हीं ने की।"

कम्पिल वासुदेव—भगवन्! मैं उनसे मिलने के लिए जाना चाहता हूं।

भगवान् मुनि सुव्रत स्वामी—वासुदेव, वासुदेव से मिलें, यह बात असम्भव है।

प्रभु के वचनों को सुने अनसुने करके, कम्पिल वासुदेव, वासुदेव श्रीकृष्णचन्द्र से मिलने को चल दिया। साक्षात्कार तो हुआ नहीं। किन्तु हां, दूर ही से, दोनों अपने-अपने शंखों की ध्वनि द्वारा मिल भेंटे। वहीं से, कम्पिल वासुदेव अपने भवन को लौट पड़े।

उधर, मार्ग को पार करते-करते, श्रीकृष्ण वासुदेव आदि जब गंगा-तट पर पहुँचे, तब श्रीकृष्ण ने पांडवों से कहा, "तुम लोग, नाव में बैठकर, गंगा के उस पार चले जाओ। वहां पहुँच जाने पर, नाव को वापिस लौटा देना।" तदनुसार, वे लोग नाव में बैठकर, गंगा के उस पार तो चले गये; किन्तु नाव को, उन्होंने, यह सोचकर, कि श्रीकृष्ण में कितना बल है, वापिस नहीं भेजी। कुछ देर तक, इधर, श्रीकृष्ण नौका की राह देखते रहे। अन्त में जब उन्होंने नाव को वापस आते न देखा, तब तो अपने एक हाथ में रथ के घोड़ों की बागडोर उन्होंने पकड़ ली; और दूसरे हाथ से तैरते हुए, गंगा को पार करने के लिए, वे उसमें कूद पड़े। बीच में पहुँचते-पहुँचते जब कुछ थकावट उन्हें हो आई, तो गंगा देवी ने, वहीं, एक रमणीक विश्राम-स्थल, उनके लिए बना दिया। कुछ देर विश्रान्ति कर, जब वे गंगा के दूसरे तट पर पहुँचे, उन्होंने

पाडवो से नौका को वापिस न भेजने का कारण पूछा। इस पर पाडव बोले, 'महाराज! हम लोग आप का बल आकना चाहते थे। बस इसीलिए, हम लोगों ने नौका को न लौटाया।" पाडवों के इस उत्तर को सुनकर श्रीकृष्ण को कुछ रोप आ गया। वे बोले, 'क्या, तुम लोगो ने, वहां समर भूमि में, मेरे बल का नहीं देखा था? अच्छा, लो, न सही, अब देख लो!" इसके पश्चात्, श्रीकृष्णजी, पाडवों पर मुष्टि प्रहार करने के लिए उद्यत हुए। उसी समय, द्रौपदी ने बीच में पड़कर, प्रार्थना की, "प्रभु! यह आप करते क्या हैं? आखिकार ये लोग हैं तो आप ही के न? आप क्षमा शील हैं। इन्हें क्षमा कीजिए।"

श्रीकृष्ण—मैं करता भी क्या? मेरे बल ही की ये लोग परीक्षा लेना चाहते हैं। तब तो इनकी बात मान कर, मुझे भी अपना बल उन्हें दिखा देना चाहिए।

द्रौपदी—महाराज! अपने इस क्रोध को, आप अपने इस रथ ही पर उतार दीजिये। इनकी, इस बार तो आप रक्षा कीजिये।

इस पर, श्रीकृष्णजी ने वेसा ही किया। उनके एक ही मुष्टि प्रहार से, वह सुदृढ रथ चूर-चूर हो गया। उसी काल से, श्रीकृष्ण, 'भागीरथ' के नाम से, ससार मे प्रसिद्ध हुए।

अन्त मे, श्रीकृष्ण ने पाडवों को आज्ञा दी, कि अब तुम लोग मेरी अदृष्ट सेवा में रहा करो। उन्हीं दिनों पाडवों ने पाण्डव मथुरा की नींव डाली। और, वहीं, वे सब लोग रहने भी लगे।

एक बार, मुनि श्री धर्म घोस महाराज, विचरण करते-करते पांडव-मथुरा मे पधारे। उनके, सदुपदेश ने जादू-का सा काम किया। पाडवों के मन में वैराग्य उमड़ आया। तब तो

द्रौपदी-समेत पांचों पांडवों ने दीक्षित हो कर, आत्म-कल्याण कर के, लोक-रंजन करने का मन में निश्चय कर दीक्षा लेली। इतना ही नहीं, उन्होंने यह अभिग्रह भी साथ में धारण किया, कि हम लोग, 'मास-क्षमण' अर्थात एक-एक महीने की तपस्या करते हुए, श्रीनेमिनाथ भगवान् के दर्शन करेंगे। इस के बाद, वे वहां से चल पड़े।

विचरते विचरते, वे एक दिन, हस्तिनापुर के बगीचे में जा निकले। श्रीमुनि युधिष्ठिर जी तो, वहीं विराजे। शेष चारों मुनिराज, मास-क्षमण (मास-खमण) के पारणे का दिन होने से, आहार-पानी लाने के लिए, बस्ती में पधारे। वहां कुछ ही आहार-पानी उन्हों ने ले पाया होगा, कि उसी समय, श्री नेमिनाथ प्रभु के मोक्ष-धाम में सिधार जाने की बात उनके कानों पड़ी। वहां से वे लौट पड़े। और, श्री युधिष्ठिर मुनिराज के निकट आकर, भगवान् के मोक्ष-धाम में पधार जाने की बात कह सुनाई। ज्यों ही उन्हों ने इस घटना को सुना, त्यों ही वे बोले, "आप लोग, जो कुछ आहार-पानी लाये हो, उसे तो किसी निर्वध्य स्थान पर डाल दें; और तब आप भी सन्थारा (समाधि) धारण कर लें।" तदनुसार पांचों पांडव मुनि-राजों ने, शत्रुंजय पर्वत पर जा कर, संथारा ले लिया। वहां, पूरे दो महीने तक वे उसी समाधिस्थ अवस्था में रहे। अन्त में, अपने समस्त घनघाती कर्मों का समूल नाश कर के, वे शरीर छोड़ कर, अखंड आनन्दमय मोक्ष-धाम में जा विराजे।

जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं, कि महासती द्रौपदी ने भी सुव्रताजी आर्या के निकट दीक्षा धारण की थी। थोड़े ही काल में, उस ने भी, शास्त्रों के तत्त्व-ज्ञान का अच्छा सम्पादन कर लिया था। वह भी, अन्त में, समाधि को धारण कर के, बारहवें स्वर्ग में सिधार गई। सच है, ज्ञान के समान

पवित्र वस्तु, इस जगत् में, कोई दूसरी नहीं। उसे पा लेने पर, मोक्ष जैसी महान्, कठिन वस्तु तक, सुलभ-से सुलभ हो जाती है। इस लिए, प्रत्यक नर-नारी का परम धर्म और श्रेष्ठ कर्तव्य है कि वह ज्ञान सम्पदान के लिए, अपने पूरे-पूरे बल से जुट पड़े।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] पाडवों का कुछ पूर्व परिचय दो।

[२] कौरवों के उदाहरण से सिद्ध करो, कि "आखिर कार, अन्धों की सन्तानें अन्धी ही तो होती हैं।"

[३] द्रौपदी के उदाहरण से बताओ, कि हँसी का दुष्परिणाम होता है।

[४] जूए से होने वाली हानियों का वर्णन, उदाहरण देकर, करो।

[५] "आततायियों और अन्यायियों के साथ, नीतिमत्ता और सदाचार का व्यवहार करना, निरी मूर्खता, और भोंदूपन ही नहीं, वरन् घोर पाप भी है। जिस का प्रायश्चित्त, सर्वस्व को हाथों से खो कर और प्राण घातक अपमान को सहते हुए, करना पड़ता है।" इस कथन को समझाओ। और, इस की पुष्टि का प्रमाण भी दो।

[६] बड़ों का अनादर करने से, कैसी कैसी विपत्तियां सहनी पड़ती है? द्रौपदी के उदाहरण से, अपनी कथन की पुष्टि करो।

[७] बताओ, कि ज्ञान के समान पवित्र वस्तु इस जगत में कोई दूसरी नहीं है।



७ चन्दनबाला



न्दनबाला या वसुमति, चम्पा-नरेश, महाराजा दधिवाहन की सुपुत्री थी। इस की माता, धारिणी रानी थी। चन्दन-बाला, छोटी-सी उम्र ही में, एक ओर, जहां अपने अनुपम रूप सौन्दर्य से सुर-बालाओं को लजाती थी, वहां दूसरी ओर उसका धार्मिक और नैतिक ज्ञान-भंडार भी, खूब ही भरा-पूरा हो गया था। षट द्रव्य और नव तत्वों में उस की गहरी पहुँच थी। वह, हमारी आज की उन महिलाओं के समान नहीं थी, जिन्हें 'नमोकार मन्त्र' तक पूरा न आता हो। और, जो 'पहिणजर मरणा' को 'पीहर जाके मरणा' कहती हों। कभी-कभी तो वह, उन पेचीदा नैतिक मामलों तक को, बात-की-बात में सुलझा देती थी, जिन के लिए, बड़े-बड़े नीति-विशारदों तक को, घंटों और दिनोंही नहीं, वरन् महीनों तक, अपने दिमाग़ को उलझन में पटक रखना पड़ता था। यही कारण था, कि समय-समय पर, महा-राज दधिवाहन भी, अपने राज्य के पेचीदा मामलों को सुल-झाने के लिए, रानी तथा अपनी पुत्री से सलाह-मशविरा किया करते थे।

एक दिन, किसी कारण, कौशम्बी नरेश शतानिक और दधिवाहन में कुछ खटक सी गई। जिस के कारण, शतानिक ने दधिवाहन पर आये दिनों धावा बोल दिया। दधिवाहन ने मुकाबिला भी उस का अपने बल पर किया। पर आखिरकार रण क्षेत्र में, ठहर भी वह कब तक सकता था। क्योंकि, युद्ध की पूर्व तैयारी, उसकी कोई थी नहीं। अन्त में, दधिवाहन के पैर उखड़ गये। और, वह वहा से भाग निकला। ज्योंही यह खबर शतानिक को मिली, उसने शहर में लूट मचवादी। उसी लूट में एक पायक राज-महलों में घुस गया। उसने रानी तथा चन्दनबाला को अपने अधिकार में कर लिया। तब उसने उन दोनों को एक रथ में बिठा दिया, और वहा से भाग निकला। मार्ग में, सारथी की नीयत बिगड़ गई। वह, रानी की ओर, कुभावना पूर्ण दृष्टि से तकने लगा। उस समय, कई प्रकार के कुवचन भी, उसने रानी से कहे। बदले में, अनेकों फटकारें भी रानी ने उसे सुनाई। दुर्दिन की मारी रानी के पास, बचाव का और कोई साधन भी तो, नहीं था। अब पापी पायक ने, रानी की एक मात्र बची हुई इज्जत को, धूल में मिला देने का अपने मन में पक्का इरादा कर लिया। उसने उस की ओर हाथ बढ़ाया ही था, कि इतने ही में, अपने शील-धर्म को अक्षुण्ण रखने के लिए, रानी को एक अनुपम सूझ सूझी। उसी समय, उसने अपनी जबान को दांतों तले इतने जोर से दबाया, कि अपने प्राणों की बाजी, बात की-बात में, उसने लगादी। पापी पायक, हाथ पटक पटक कर रह गया, परन्तु सिर धुनने और छाती पीटने के सिवा, उस के हाथ और कुछ न लगा। महारानी धारिणी ! तुम्हें सैकड़ों बार धन्यवाद है। इस नश्वर जगत् में आकर, एक-न एक दिन, सभी को जाना पड़ता है। परन्तु तुम ने तो मर कर के भी,

अमरत्व का अनुपम पाठ, महिला-जगत को पढ़ाया ! तुम ने अपने शील-धर्म को,अपने प्राणों से भी कहीं बढ़ कर समझा ! मां ! तुम-जैसी वीर-ललनाओं और धर्म-प्राण महिलाओं को पाकर ही, इस गये-गुजरे जमाने में भी, हमारी महिलाओं का माथा, गर्व से उन्नत है ! और, आगे भी रहेगा !

अपनी माता के प्राण-पखेरू को उड़ता देख, चन्दनबाला फूट-फूट कर रोने लगी। वह विलाप करती हुई कहने लगी " मां ! इस धरती और आकाश के बीच, अब मेरा आधार ही कौन रहा ! मुझ अनाथ और असहाय अबला को छोड़, तुम कहां चल बसी ! अपनी स्नेहमयी दया की दृष्टि से, मुझ अबोध बालिका की ओर, एक बार देख-भर ले, और इसे भी अपने साथ ही ले चल ! जब यह पापी पायक, तुम-जैसी वीरांगनाओं के शील और सतीत्व तक को कलंकित करने के लिए उतारू हो गया था, तब मेरी तो, इस के आगे बिसात ही कौन-सी है। " यों विलपती और कलपती हुई, पास में पड़ी हुई कटार का एक हाथ, अपने पेट में वह भोंक देना ही चाहती थी, कि इतने ही में, उस पाषाण-हृदय पायक का दिल तिलमिला उठा। सहसा झपट कर उसने उस का हाथ पकड़ लिया। और, उस ने अपने कलेजे पर हाथ रख कर उससे कहा, " तू, आज से मेरी बहिन हुई; और, आज से, मैं, तेरा भाई ! " ओह ! अन्तरात्मा की करुण पुकार में भी, पाषाण-हृदयों तक को बात-की बात में पिघला कर, पानी-पानी बना देने की, कितनी प्रचण्ड शक्ति होती है। अबोध चन्दनबाला को विश्वास हो गया। उसने कटार को हाथ से परे रख दिया। और-सारथी उसे लेकर, कौशम्बी नगरी में अपने घर आया।

पायक की स्त्री ने, चन्दनबाला के सुप्त सौन्दर्य को, शंकित हो कर, ऊपर से नीचे तक, एक बारगी देखा। नारियां, अब-

लाएँ कहलाती है। इसी नाते, उन का हृदय भी, कभी कभी, बड़ा ही निर्बल बन जाता है। फिर, निर्बलता, पाप है। उस समय, जो भी अन्याय और अत्याचार, उस निर्बल हृदय से न हो जायँ, वे सब थोड़े ही हैं। उसी निर्बलता ने पायक की स्त्री को सहसा सशंक कर दिया। वह, मन ही-मन सोचने लगी, "सम्भव है, एक-न एक दिन, इस के सुप्त सौन्दर्य के जाग उठने पर, मेरा पति, अपना हृदय, सदा के लिए इसे दे दे। उस दिन, मेरी कैसी दुर्दशा होगी, नहीं कहा जा सकता। अत पानी आने के पहले ही,पाल क्यों न बाध लेना चाहिए।" यह सोच कर, उसने अपने पतिके सामने एक प्रस्ताव पश किया —"यदि इसे आप अपने साथ घर में लाये, तो मैं आप तक को, घर में पैर न रखने दूंगी। पर नारी, पैनी छुरी कहलाती है। न जाने, इस के कारण, कब और कौनसी अचानक घटना, इस घर पर, आये दिनों घट जाय, जिस से मेरा सोने का घर राख म बदल जाय।" चन्दनबाला के भाग्य में अभी दुख बदा था। अत. पायक की स्त्री का मूल प्रस्ताव, विना किसी संशोधन के, पास हो गया। तब तो पायक बेचारा, उसे बीच बाजार में लाकर, बेचदेने पर उतारू हुआ खरीद दार इक्ट्ठे हुए। बालिया लगीं। खरीदनेवालों के थोक में से एक वेश्या भी थी। उसके अध-खिले सौन्दर्य को देख कर, उस के द्वारा, थोडे ही समय में, अटूट धन-राशि को कमा लने की धुन का भूत, उस पर सवार हो गया। पायक का भाग्य चेता। उसने चन्दबाला के बदले, उस वेश्या से मुँह मागा मोल पाया, और उधर, उस वेश्या ने उसे पाकर अपने भाग्य को सराहा। दोनों ने अपने अपने घरों की ओर मुँह किया। चन्दनबाला ने चलते समय पूछा, "मां! तेरे घर, तू, मुझे क्यों लिये चल रही है?" इस पर,—"तेरा

भाग्य खुल गया। नित्य नया शृंगार और नित्य नया भरतार"-वेश्या ने उत्तर दिया। यह सुन कर, चन्दनबाला का ज़र्रा-ज़र्रा थरथरा उठा। एक लम्बा निश्वास लेते हुए, मन-ही-मन, वह कहने लगी, "हाय! कोई भी दुख, अकेला तो कभी आता ही नहीं। पायक के पंजे से छूटी, तो वेश्या के चंगुल में फँस पड़ी। शील-रक्षक देव! असहाय और अनाथ अबला के शील की रक्षा, अब, एक-मात्र आप ही के हाथ है।" यूँ कह कर, परम पवित्र णवकार मंत्र का, मन-ही-मन, जाप वह करने लगी। उसी क्षण, एक बड़ी ही अद्भुत घटना घटी। शील-रक्षक देव ने आकर, अच्छन्न रूप से, वेश्या के नाक को काट गिराया। उसके बाद ही, लबूरनेवाला प्राणी वह बन गया। और, उस वेश्या के सारे शरीर को लबूर-लबूर कर, लोहू-लुहान उसने कर दिया। वेश्या चीख उठी। उसी समय, मन में उस ने सोचा, कि हो-न-हो, यह लड़की, कोई ऐसी-वैसी नहीं है। लड़की के रूप में, यह कोई देव, या कोई बलाय है। मैंने इसे, अभी तो खरीदा मात्र है। घर भी नहीं पहुँच पाई, कि इतने विघ्नों का वज्रपात मुझ पर हो चुका! घर ले जाने पर, तब तो, और कौन-कौन संकट के पहाड़ मुझ पर टूटेंगे! यह सोच, वह उलटे ही पैरों, पायक के पास पहुँची। उसने उस को आप-बीती सारी बातें बता कर, अपनी रकम वापस चाही; और चन्दनबाला को उस के हाथ सौंप दी।

विवश हो कर, पायक उसे दूसरे बाज़ार में लेगया। वहां उसने उस के लिए पांच सौ स्वर्ण-मुद्राओं की बोली लगाई। भाग्य से, उसी क्षण, धनावह नाम का एक उदार-चरित, दानी और धर्मात्मा सेठ उधर आ निकला। चन्दनबाला की निर्दोष और भोली-भाली सूरत को देख कर, उसके दिल में दया का एक तूफ़ान आ गया। उसी समय, पायक को पांच सौ मुहरें

उसने गिन दी। और, चन्दनबाला को पुत्री मान कर खरीद लिया। चलते हुए, चन्दनबाला ने पूछा, "पिताजी ! अपने घर पर, आप मुझ से कौन सा कार्य लेंगे ?" इस पर, धनावह बोला, ऐ धर्माचारिणी ! मेरे घर में कोई पुत्री नहीं है। अत मैं तुझे अपनी पुत्री कर के मानूँगा। तेरा भी कर्तव्य है, कि तूभी, मेरे घर पर पहुँच कर, जितने भी धार्मिक कार्य वहां होते रहें, उन में पूरा पूरा अपना हाथ बँटाती रहे।" इन शब्दों को सुन कर, चन्दनबाला का चित्त नाच उठा। और, उसके साथ वह होली। दोनों, घर पर पहुँचे। सेठ ने सेठानी मूला से, चन्दनबाला को खरीद कर लाने और उस के साथ पुत्री-जैसा वर्ताव करने की, सारी बातें कह सुनाईं। परन्तु चन्दनबाला के सुप्त सौन्दर्य को, सिर से पैर तक देख कर, मूला के मन में बड़ी ही उथल-पुथल मच गई वह मन ही-मन कहने लगी, ' सेठजी, जिस को आज अपनी पुत्री कहते हैं, मानवी भावनाओं से, कल उसी को, येही अपनी प्राण-प्रिय प्रेयसी बना डालेंगे। उस घड़ी, मुझ पर, किस विपत्ति का पहाड़ आ कर टूटेगा ! उस दिन, मेरी, ठीक वही दशा होगी, जैसी कि घी में पड़ी हुई मक्खी की। बेचारी का प्राण तो जाता ही है। साथ ही, अलग-थलग, निकाल कर, उसे फेंक भी दिया जाता है। मूला ने सेठ की बात को सुनी-अन-सुनी-कर ली। और, सचेत तथा शंकित चित्त हो कर, उस समय की प्रतीक्षा वह करने लगी, जब कि चन्दनबाला को सदा के लिए वह खो बैठे।

एक दिन, सेठ कहीं से घर की ओर आ रहा था रास्ते में, उस का पैर गोबर से भर गया। घर पहुँचने पर उस ने देखा, कि मूला इधर-उधर किसी काम में लगी हुई है, और चन्दनबाला स्नान कर के अपने बालों को सुखा रही है।

चन्दनबाला को पुकार कर सेठ ने कहा, " बेटी ! थोड़ा पानी ला दे; मेरा पैर भर गया है; मैं पैर धोलूँ। " उत्तर में चन्दन-बाला ने कहा, " पिताजी । आप यहीं पधार जावें; मैं स्वयं ही आप के पैरों को धो दूंगी । बेचारा सेठ वहीं चला गया। कपट-भाव तो, दोनों में से किसी के भी मन में था नहीं। तब हिचकिचाहट भी क्यों और कैसे होती ? परन्तु पापी-मना प्राणी, ऐसे ही अवसरों से, अनुचित लाभ उठालेने की बात सोचा करते हैं । चन्दनबाला अपने धर्म-पिता के पैर धोने लगी। परन्तु उस समय, सिर उसका खुला हुआ था। बाल उस के बिखरे हुए थे। अतः बार-बार, आंखों के सामने आ-आ कर, पर्दे का काम कर जाते थे। जिस के लिए, पैर धोते-धोते, अपने सिर को, लगातार उसे हिलाना-डुलाना पड़ता था। उस में अपनी पुत्री को कष्ट पाते देख, एक बार, सेठ ने स्वयं ही, उस के बालों को हटा कर दूर कर दिया। मूला ने दबे-छिपे-रूप से, इस घटना को कहीं से देख लिया। अब तो, चन्दनबाला के द्वारा, उस का स्थान छिन जाने की धारणा और भी पक्की हो गई। उसने मन-ही-मन कहा, " मैं अब ऐसा ही क्यों न करूं, जिस से सदा के लिए, इस का पाप ही कट जाये। " उस क्षण के बाद, मूला और भी चौगुनी सतर्क हो कर रहने लगी। वह प्रति क्षण, यही सोचती रहती थी, कि किस तरह चन्दनबाला को जल्दी-से-जल्दी ठिकाने लगा दिया जाय।

"जिन खोजा, तिन पाइयां; गहरे पानी पैठ।" एक दिन, धनावह किसी गांव को गये। उस समय को, मूला ने अपने मनसूबों को फलने का सबसे अच्छा अवसर जाना। बस, तब देर थी ही किस बात की ! दास-दासियों को हुक्म दिया गया। बेचारी चन्दनबाला को पकड़वाकर सामने बुलवाया

गया। महिला-जगत् की महिमा का मुख्य अंश, उसके बाला में छिपा रहता है। वह प्रकृति-जात सौन्दर्य, चन्दनबाला से, आज बात-की-बात में छीन लिया गया। उसका सारा सिर मुंड़वा दिया गया। हाथों में हथकड़ियां और पैरों में बेड़ियां डलवा दी गईं। और, लहंगे का कच्छ लगवा कर, मकान के सबसे नीचे के अंधेरे मकान में, उसे पटकवा दी गई। चन्दनबाला ने लाख सिर पटका, चिल्लाया, "मां! जरा, मानव-धर्म को तो पहचान," की पुकार लगाई। परन्तु धनावह की गैर मौजूदगी में, आज उसका वहां था ही कौन, जो उसकी पुकार को सुनता, उसकी गीली आंखों को सुखाता! मूला के मन में, उसे भूंज देने के लिए, ईर्ष्या की प्रचण्ड आग धधक रही थी। और, वह भी एक लम्बी मुद्दत से। जब रक्षा का कोई चारा न देखा, तब तो अपने कर्मों का फल समझ, चन्दनबाला ने धैर्य धारण किया। चन्दनबाला, तुम्हारा वसुमति नाम, आज सचमुच में सार्थक हुआ। तुम जैसी कष्ट-सहिष्णु और सहनशील नारियों को पाकर ही, यह वसुन्धरा, वास्तव में वसुन्धरा बनी हुई है। देवी! तुम धन्य हो!

उसी काल कोठरी में पड़े-पड़े उसने तेले की तपस्या कर दी। उधर, इस कलंक से बचने के लिए, मूला ने मायके की राह ली। तीसरे दिन, सेठजी घर को आये। आते ही, सबसे पहले चन्दनबाला की याद की गई। दास दासियों से पूछा गया। जब कहीं कोई पता न लग पाया, सेठ ने स्वयं मकान के कोने-कोने को छानना शुरू किया। ज्योंही धनावह मकान के उस नीचले भाग में पहुँचा, जहां हाथ का फैलाना तक नज़र नहीं आता था, एक धीमी सी कराहट उसने सुनी। उसने पुकारा, "बेटी चन्दना! बेटी चन्दना!!" चन्दना तीन दिन से निराहार थी। धीमे से उसने कहा, "हां पिताजी!"

सेठ—बेटी ! तुम, यहां कैसे ?

चन्दना—पिताजी ! इस सारे खेल के एक-मात्र रचयिता, मेरे पूर्व-कृत कर्म हैं। इसमें, किसी का कोई दोष नहीं। भाग्य में जो बदा होता है, आखिरकार, वही तो होता है। पिताजी ! भूख के मारे प्राण तिलमिला रहे हैं। पहले, कुछ खाने को दीजिये।

उस समय, केवल, घोड़ों को खिलाने के उड़द के बाकलों के सिवाय, खाद्य पदार्थ, तैयार कोई था नहीं। वे पकाये जा रहे थे।

सेठ—बेटी ! ज़रा ही देर और ठहर। मैं, तेरे लिए अभी-अभी भोजन तैयार करवाये देता हूं।

चन्दना—पिताजी ! अब अधिक ठहरने की रत्ती-भर भी गुंजाइश नहीं। भूख के मारे प्राण-पखेरू उड़ना चाहते हैं। उड़द के बाकले ही, अभी थोड़े-से दे दीजिये। पेट तो केवल आहुति चाहता है। स्वाद और बे-स्वाद, ये तो, ज़बान के चोंचले हैं ! खट्टे, मीठे, चिरपिरे, खारे, कड़ुवे और कसैले, जितने ज़ायके हैं, सब-के-सब, केवल ज़बान के हैं। परन्तु पेट के पास जाते ही, ये सब के-सब, एक ही जाति के बन जाते हैं।

चन्दनबाला की यह तिलमिलाहट देख कर, सेठ अब अधिक समय तक न ठहर सका। पड़ोस में रक्खे हुए एक सूप को उठा लिया; और उसी में, कुछ बाकले, उसके सामने, खाने के लिए ला रक्खे। चन्दनबाला वहां से सरकते-सरकते दर्वाजे की डेवढ़ी पर आ बैठी। इतने ही में, स्वयं सेठ, उस की बेड़ियों और हथकड़ियों को कटवाने के लिए, लोहार को बुला लाने के लिए दौड़ पड़ा। अभी, चन्दनबाला ने, मुंह में एक दाना भी नहीं डाला था, कि किसी निर्ग्रन्थ मुनिराज के वहां आ पहुंचने और उन्हें दान देकर, पीछे पारणा करने की

भावना, उसके मन मे जागी। 'यादृशी भावनास्ति सिद्धिर्भवति तादृशी।' जैसी जिसकी भावना, वैसी उसको सिद्धि। उसी क्षण, स्वय भगवान् महावीर उधर आ निकले। उनके अभिग्रह के अनुरूप, सारी वातें उन्हें मिल गईं। केवल, आखों में आसू नहीं थे। यह देख, वीर प्रभु पीछे लौट गये। प्रभु को उलटे पैरों जाते देख, चन्दनवाला की आखों से आंसुओं की धार वह चली। वह अपने भाग्य को कोसने लगी, कि पकी-पकाई खेती उजड़ गई, आये धान, अकाल पड़ गया। भगवान् ने चार पैर चलकर, फिर देखा। अभिग्रह अब पूरा था। चन्दनवाला के सामने, भगवान् भिक्षु बनकर आये। एक ओर, प्रभु ने उड़द के वाकले लिये। दूसरी ओर, चन्दनवाला के भाग्य जाग पड़े। देवों ने, चन्दनवाला के मकान पर स्वर्ण-मुद्राएँ वरसाईं, और आकाश में दुन्दुभिया वजाईं। उसकी हथकड़िया और वेड़िया टूट पड़ीं। उनके स्थान में, अनमोल हीरे और मणि-माणिक के जवाहिरात, वहा वन गये। सिर पर लम्बे, काले स्याह, सुकोमल, चिकने और चमकीले वाल निकल आये। सच है—

जितने तारे गगन में, उतने वैरी होंय।
एक कृपा जिनराज की, वाल न वांको होय॥

उधर, सेठ से लोगों ने कहा, "इधर, तुम किस उलझन में फँसे हो? घर को क्यों नहीं जाते? तुम्हारे घर, सोने की वर्षा हुई है। चन्दनवाला के सारे वन्धन टूट पड़े हैं। उसे उसका पूर्व सौन्दर्य और वैभव प्राप्त हो चुका है। जरा घर को जाकर देखो तो?

मूला को भी यह खबर लगी। वह भी जैसे खड़ी थी, ठीक वसे ही, अपने घर की ओर दौड़ पड़ी। आकर, लोगों से कहने लगी, "देखो, मेरी एकभी सुवर्ण मुद्रा किसी ने उठा

ली, तो ठीक न होगा।" साथ ही, चन्दनबाला से भी वह दबती जाती है, कि कहीं उसका भण्डाफोड़, वह न कर दे। नहीं तो, सेठ की निगाह से, सदा के लिए, वह गिर जावेगी। उसे यूँ सकुचाते देख, चन्दनबाला ने कहा, "मां! यह सारा पुण्य-प्रताप आप ही का है। यदि तू ऐसा व्यवहार मेरे साथ नहीं करती तो वीर प्रभु के दर्शन मुझे हो ही कैसे पाते! मां! चित्त को तनिक भी छोटा न करो। मैं तो सब प्रकार से आप ही की हूं।"

उस पायक और उस वेश्या ने भी यह सन्देश सुन पाया। स्वर्ण मुद्राएँ, जो बरसीं, वे हमारी हैं, यह कहते हुए वे भी दौड़ पड़े। स्वर्ण-मुद्राओं के लिए, दोनों परस्पर लड़ते-झगड़ते कौशाम्बी-नरेश के पास पहुँचे। और, चम्पा-नगरी की लूट के समय, चन्दनबाला को लूट में पाने की सारी बात, आदि से अन्त तक, उन्होंने उसके सामने कह सुनाई। दधिवाहन के कानों पर यह बात पड़ते ही, वह आग-बबूला हो गया, और कहने लगा, "एँ, मेरे साढ़ू की लड़की चन्दनबाला और उस पर, इस प्रकार का घोर संकट? पकड़ कर डाल दो इन दोनों को भयंकर कारावास में। तब तो, राजा स्वयं चल कर, धनावह सेठ के यहां आया। और चन्दनबाला को मांग कर, बड़े सत्कार के साथ, अपने राज-महलों में ले गया। महाराजा दधिवाहन को भी सूचना दी गई। वे भी कौशाम्बी में आ पहुँचे। 'जन्म-दरिद्र मनहुं निधि पाई' के नाते, खोये हुए पिता से भेंट कर, जो अपार हर्ष हुआ, वह कहते नहीं बनता। उस का अनुभव तो, उन्हीं को हो सकता है, जो स्वयं चन्दनबाला का हृदय रखते हों। महारानी धारिणी की बात पूछने पर, मार्ग में, उस पर कैसे-कैसे संकट आये; उसका परलोक-वास किस प्रकार से हुआ; सारा कच्चा चिट्ठा उसने अपने पिता

से कह सुनाया। ये वातें, ज्योंही, महाराज दधिवाहन ने सुनी, उनकी छाती भर आई। उन्होंने अपनी वीरता को धिक्कारा। और, अपनी शाही शान को सैकड़ों वार कोसा। तत्पश्चात्, राजा ने चन्दनवाला के सामने प्रस्ताव पेश किया, कि "चलो, अब घर को चलें। वहा चल कर, तुम्हारे विवाह की योजना, मैं, कर दूँगा। वेटी! मेरी कायरता के कारण, तुमने अनेकों घार सकट सहे हैं।" यह सुनकर, चन्दनवाला बोली, "पिता जी! जन्म-जन्मान्तरों में साधारण विवाह तो, मैं अनेकों कर चुकी हू। इस वार, मैं अव जव कि सज्ञान हू, ऐसा-वैसा विवाह न करके, दीक्षा ही के साथ वरण करूँगी। और, वह भी तव, जव कि भगवान् महावीर को केवल-ज्ञान होगा। मैंने ऐसी प्रतिज्ञा धारण कर रक्खी है।" पिता ने पुत्री के कथन का अनुमोदन और समर्थन किया। उस समय, उसका हृदय वासा उछल रहा था। दधिवाहन, चन्दनवाला के साथ, अपने राज्य में आये। चन्दनवाला, अव धर्म-ध्यान में रात-दिन रत रहने लगी।

समय आया, और एक दिन भगवान् महावीर, ऋजुवाला नदी के तट पर, गोदुह आसन से, ध्यान लगा रहे थे। उस क्षण, चारों कर्मों के समूल नाश हो चुकने पर, केवल ज्ञान उन्हें हो गया। तव, चन्दनवाला ने भी उसी समय, वीर प्रभु के पास, दीक्षा धारण कर ली। समय पाकर, इस महा सती ने द्वादशांगी का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया। ।फिर, जितनी भी महिलाओं ने समय समय पर दीक्षा धारण की, वे सव-की-सव, महासती चन्दनवाला ही के नेश्रित हुई। उन सभी अपनी शिष्याओं को, महासती चन्दनवाला ने पर्याप्त ज्ञान का अध्ययन कराया। जव आप का अन्तिम समय आया, आपने सन्थारा (समाधि) धारण कर लिया। यूँ, अपने आठों कर्मों

बुलाती रहतीं, और अपने वंश की बची-बचाई मान मर्यादा, तथा प्रसन्नता को, झाड़-बुहार कर मटियामेट करता रहता हैं. एक दिव्य प्रकाश-स्तम्भ का काम दे रहा है। शताब्दियों की गर्मी, सर्दी, आंधी, वर्षा और पतझड़, उसका बाल भी बांका न कर सकी। आज भी वह प्रकाश-स्तम्भ ज्यों-का-त्यों खड़ा हुआ है।

एक समय, महाराज पांडु. खुली हवा का सेवन करने के लिए, जंगल में निवास करने को गये। वसन्त ऋतु की बहार छाई हुई थी। प्रकृति की शोभा को देखते हुए, वे एक दिन इधर-उधर टहल रहे थे, कि इतने ही में, अचानक, उनके हृदय की धड़कन बन्द हो गई। जिसके कारण, उनकी जीवन-लीला, वहीं समाप्त हो गई। इस अचानक वज्र-पात से, राज्य में, चारों ओर, कुहराम छा गया। कुटुम्बी जनों ने मिलकर, विधि-पूर्वक अग्नि-संस्कार उनका किया। फिर, पांडवों ने, आये दिनों, 'इन्द्रप्रस्थ' की नींव डाली। और, उसी को अपनी राजधानी बनाया।

पांडवों को जूआ खेलने का बड़ा ही बुरा व्यसन था। वह भी ऐसा-वैसा नहीं; दांव लगा कर। एक दिन, वे लोग कौरवों के साथ जूआ खेलने को बैठे। कौरव बड़े ही कपटी और छल-छन्दी थे। उसमें, पांडवों की हर समय हार होती गई। फिर भी, वे खेलते-ही रहे, खेलते-ही रहे। यहां तक कि अन्त में चल कर तो, उन्होंने अपनी बपौती की एक-मात्र मान-मर्यादा, अपने राज्य तक को, दांव पर रख दिया। कौरव अपनी कपट-नीति से इस बार भी सफल रहे; और पांडवों की हार हुई। अपने इसी प्राण नाशक दुर्व्यसन के कारण, बेचारे पांडवों को, वन-वन की खाक छाननी पड़ी; और अज्ञात-वास के समय भांति-भांति के कपट-वेशों को धारण करके, जीवन के दिन

काटने पड़े। आज भी, जूआ की इस पापी प्रथा के कारण, दुनिया का प्रत्येक घर दुखी और दीन-हीन बना हुआ है। कई व्यक्ति तो ऐसे पाये जाते हैं, जो इसी जूआ के फेर में पड़ कर, दाने-दाने के लिए तरस रहे हैं और न जाने कौन-कौन-से अमानुषिक कामों में वे लग पड़े हैं। यही सत्यानाशिनी प्रथा, औरतों के आभूषणों को, आये दिनों, बिकवाती है, घर के बर्तनों तक का गिरवी रखवाती है; घरों को बिकवाती है, धर्म की आड़ में, बाल विवाह और वृद्ध विवाहों को प्रोत्साहन देकर, अपने जीते-जागते तथा चलते-फिरते फर्जन्दों को, दिन-दहाड़े, हज़ारों के मुँह-मागे मोल और तौल में बिकवाती है। इसी प्रथा ने, कितने ही फूलते-फलते परिवारों को ऊजड़ ग्राम में बदल दिया है, और कितनों ही को आत्म-हत्या के लिए उतारू किया है। यही कारण है कि धर्म-शास्त्रों ने, जूआ खेलने को, घोर नर्क की निशानी बताया है। और, इस सचाई का अनुभव, आज, ससार पद-पद पर कर रहा है।

एक बार महाराज कृष्ण कुन्ती देवी से मिलने के लिए आये। वे बोले, "भूआजी! कुशल मगल तो है?" कुन्ती ने कहा, "भाई! तुम्हीं साचो, कुशल-मगल कैसा? पाचों पाडव, वन वन की खाक छान रहे हैं। न पेट भर खाने को मिलता है, न पैर पसार कर बिछाने ही का। नकुल और सहदेव की सार-सँभाल कौन करता होगा। उनके साथ, बेचारी द्रौपदी भी कड़ाके करती होगी। इतना होने पर भी, आनन्द और कुशल-मगल?" इस पर, महाराज कृष्ण ने अपनी भूआजी को धीरज बँधाया, और शीघ्र ही उनके दुख को दूर करने का वायदा किया। उन्होंने अपने दूत को कौरवों के पास भेज कर उन्हें समझाया-बुझाया। फिर, पाचों पाडवों को, कम-से-कम, पाच गाव दे देने के लिए उनसे कहा। बदले

इस अन्याय-पूर्ण नीति को सहन करने के लिए, कभी उतारु नहीं होती। मानव-जगत् में जितनी आवश्यकता पुरुष-जाति की है, स्त्री-जाति की भी, उसमें उतनी ही अधिक आवश्यकता और उपयोगिता है। तब क्या, हमारी सधन और विदुषी माताओं और बहिनों का यह परम धर्म, श्रेष्ठ कर्तव्य नहीं है, कि वे अपनी भूखी बहिनों की उदर-पूर्ति के लिए, उन्हें वेश्या बनने से रोकने के लिए, उन्हें विधर्मी बनने से बाल-बाल बचा लेने के लिए, और अपने धन तथा विद्या-बुद्धि का सर्वोत्तम उपयोग करलेने के लिए पुरुषों के समान महिलाओं के लिए भी, ऐसी ही संस्थाओं को खुलवाने का प्राण-प्रण से प्रयत्न करें? क्या वे नहीं जानतीं, कि किसी के दुष्कर्म तथा पापों को प्रकट न करते हुए, अपनी प्रेम-शक्ति से, उसे पाप से हटाये रखना, सब-से बड़ी सेवा है? क्या, वे भूल जाती हैं, कि सेवा करना मनुष्य का परम धर्म है? तभी तो शास्त्रकारों का कथन है, कि जाति, वर्ण, पद, और ऐश्वर्य, इनका तनिक भी विचार न करके उसकी सदा सेवा करनी चाहिए। यही क्यों? मनुष्य ही के समान, चरिन्दों और परिन्दों तक की सेवा करना, हमारा परम कर्तव्य है। अमेरिका के प्रेसिडेंट वॉशिंगटन का कथन है, कि "जो परायों की अधिक-से-अधिक सेवा करता है, वही सब-से अधिक सुखी और समझदार है। इस के विपरीत, अधिक-से-अधिक दुखी वही है, जो परायों की कम-से-कम सेवा करता है।" महात्मा गौतम बुद्ध ने तो, अपने शिष्यों को, यहां तक कह दिया था, कि "जिस को मेरी सेवा करना है, वह केवल रोगी और अपाहिज़, लूले और लगड़े, दुखी और दर्दी, अनाथ और असहाय, तथा सम्पूर्ण नारी जाति की सेवा-भर कर ले। यदि उसने ऐसा कर लिया, तो मेरी सर्वोत्तम सेवा हो गई।" अस्तु।

पांडवों ने अपनी माता कुन्ती देवी को, वनवास में धृत-

राष्ट्र आदि के साथ जाने से, खूब ही रोका। परन्तु उसने उन की एक न सुनी। उसने कहा, "पुत्रों! जो भी जन्म ले कर यहां आया है, उसे एक न एक दिन यहां से जाना होगा, और अवश्य जाना पड़ेगा। यहा न किस की बनी रही, और न किसी की बनी रहेगी। कल, यहा, कौरवों का राज था। आज, उनका कोई नाम लेवा भी यहा नहीं। फिर, आत्मा को शान्ति न राज्य से मिलती है, न धन से; न कुटुम्ब से, न वैभव से, और, न पौद्गलिक सुख ही उसे दिला सकने म समर्थ हैं। वह तो त्याग तथा सेवा, और केवल त्याग तथा सेवा ही से मिल सकती है। अत तुम मुझे लाख-लाख रोको। पर मैं अब रुक नहीं सकती। ये धृतराष्ट्र आदि, पुत्रों के शोक से घोर दुखी हैं। अब, मैं, इनको अपनी वास्तविक सेवा का सच्चा अधिकारी समझती हूँ। मुझे तो, अब इन्हीं की सेवा में, आनन्द-मंगल दिखाई देता है। तुम्हारा भी परम कर्तव्य यही है, कि तुम मुझे ऐसी अनायास प्राप्त सात्विक सेवा के मार्ग से, भूल कर भी, कभी विचलित मत करो।" बस, यूँ अपने पुत्रों को समझा-बुझा कर, वह तो धृतराष्ट्र आदि के साथ चल ही पड़ी। अपने उसी सेवा धर्म के बल से, महिलाओं में, उसका नाम, बड़े ही आदर के साथ लिया जाता है। माता! तुम धन्य हो! तुम्हारा आदर्श चरित्र, अक्षय काल के लिए, संसार की महिलाओं को, सेवा-धर्म का आदर्श पाठ पढाता रहेगा। ॐ शान्ति ॐ!

अभ्यास के लिए प्रश्न—

[१] कुन्ती और माद्री के आदर्श प्रेम का वर्णन, थोड़े में करो।
[२] जूआ खेलने से होने वाली हानियों की रूप रेखा खींचो।
[३] महाभारत के युद्ध का मूल कारण बताओ।
[४] सेवा-धर्म ही, मनुष्यों का परम धर्म है। कैसे? उससे होने वाले लाभों को थोड़े में प्रकट करो। सेवा-धर्म के लिए शास्त्र तथा सतों की एक-दो वाणियों का उद्धरण भी करो।

९ मृगावती



भगवान् महावीर के समय में, हमारी इसी भारत वसुन्धरा में, कौशाम्बी नामक एक अति ही मनोहर नगरी थी। वहां के निवासी सब प्रकार से सबल, सम्पन्न, और सुखी थे। उन दिनों, वहां की कला-कौशल भी खूब ही बढ़ी-चढ़ी थी। जिस के कारण, वहां का, छोटी-से-छोटी श्रेणी तक का व्यक्ति, 'कष्ट' क्या होता है, यह तक नहीं जानता था। कौशाम्बी, विद्या का केन्द्र था। उस समय, ऐसी कोई भी कला न थी, जिसकी शिक्षा, कौशाम्बी में न दी जाती हो। यही कारण था, कि नगरी के कोने-कोने में कला-विज्ञों की एक भर-मार सी लगी हुई थी। वहां के चित्र-कारों ने तो, अपनी कला में इतनी अधिक जानकारी और प्रवीणता प्राप्त करली थी, कि उन दिनों, संसार के प्रत्येक कोने का अच्छे-से-अच्छा चित्रकार, उनका लोहा मानता था। महाराज शतानिक, उस समय वहां के राजा थे। उनकी पट-रानी का नाम था 'मृगावती'। उसके रूप-लावण्य की चारों ओर खूब ही धूम थी। धर्म-परायणा भी, वह अपने समय की नारियों में एक ही थी। उसके रोम-रोम से धर्म की ध्वनि निकलती थी। जैसी वह धर्म-परायणा थी, वैसी ही वैराग्य-वान् भी वह थी। विशाला नगरी के महाराज चेटक उसके पिता थे। उसके छः बहिनें और भी थीं। जिनमें से एक का नाम त्रिशला था। ये वे ही त्रिशला देवी थीं, जिनकी पावन कोंख से, भगवान् महावीर जैसे नर-रत्न, अवतरित हुए।

एक दिन महाराज शतानिक ने अपनी चित्रशाला का अवलोकन किया। उन्होंने एक-एक करके, वहा के सम्पूर्ण चित्रों को बड़े ही ध्यान पूर्वक देखा। उन में एक चित्र मृगावती का उन्हें दिख पड़ा। उस चित्र और मृगावती में यदि कोई अन्तर था, तो यही, कि यह बोलता न था, और वह बोलती थी। दूर से यही जान पड़ता था, कि यह साक्षात् मृगावती ही खड़ी हुई है। उसे देखकर, राजा का मन-मयूर नाच उठा। परन्तु इस नश्वर जगत् में, कोई वस्तु स्थाई रह भी तो कैसे सकती है ? कुछेक क्षणों में ही, राजा की वह प्रसन्नता, अप्रसन्नता मे बदल गई। चित्रकार की सारी कला-मर्मज्ञता पर बात-की-बात में पानी फिर गया। उस चित्रसारी में, अपनी पटरानी के उस मनोमोहक चित्र को देखकर, उस ने अपना घोरतम अपमान समझा। उसने अपने मनमें सोचा, कि—"एक प्रतापी नरेश की माननीया महारानी को, इस चित्रकार ने कब, कहा, और कैसे यूँ देख पाया, जिससे ऐसा चित्ताकर्षक चित्र खींचने में यह इतना अधिक सफल हो सका ? इस चित्र को देख करके तो, कोई भी चित्र कला प्रेमी यही समझेगा, कि महारानी मृगावती और चित्रकार का, कोई न कोई भीतरी सम्बन्ध, कभी-न-कभी, अवश्यमेव रह पाया होगा। अन्यथा, ऐसा चित्र, यह खींच भी कैसे सकता था ? बेचारे चित्रकार की कला मर्मज्ञता, उसके प्राणों का ग्राहक बन बैठी। राजा ने खीझ कर, उसे प्राण-दण्ड की कठोर आज्ञा दे दी। इस राजाज्ञा के प्रकाशित होते ही, सारे चित्रकारों के संसार मे, बड़ी भारी हलचल-सी मच गई। उस जगत् में जिधर भी देखो, शोक और कुहराम छा गया। सारे अन्य चित्रकार मिल कर, राजा के दरबार मे गये। उन सभी ने एक स्वर से निवेदन किया, कि महाराज ! जिस

चित्रकार ने इस चित्र को बनाया है, सचमुच में, सारे भारत-वर्ष में, आज उस की जोड़ का अन्य कोई चित्रकार नहीं। अपनी कला में, जो वह इतना निपुण और सिद्धहस्त बन पाया है, उसका कारण, एक देव का शुभाशीर्वाद है। अब, यदि उसे फांसी के तख्ते पर लटका दिया गया, तो उसकी जीवन-लीला की समाप्ति के साथ-ही-साथ, चित्रकला की मर्मज्ञता का भी, उसी क्षण, दम छुट जायगा। प्रजा-मण्डल की इस प्रार्थना को राजा ने ध्यान-पूर्वक सुना। अन्त में, राजा ने कहा, "राजरानी मृगावती को उस चित्रकार ने देखा तो कैसे? और, कब, तथा कहां? फिर, अपनी चित्रसारी में, सार्वजनिक प्रदर्शन के लिए उस चित्र को लगा करके तो, उस ने और भी बड़ा भारी अपराध किया है। यही क्यों? ऐसा चित्र बनाने के लिए, इसे कहा किसने था? इस पर, चित्रकारों ने एक स्वर में कहा, "महाराज! इसी का नाम तो कला है, कि वह, किसी के अंगुठे-भर को देख लेने पर, उसका सारा-का-सारा चित्र, हूबहू वैसा-का-वैसा ही बना दे सकता है। यदि, रत्ती-भर भी कोर-कसर उस में रह गई, तो फिर, उस कला की निपुणता ही क्या? महारानी के इस चित्र को भी, उसने इसी प्रकार बनाया है। इस में और कोई रहस्य नहीं।

अन्त में, चित्रकारों की दलीलें, राजा को रुच गईं। उस ने प्राण-दण्ड की आज्ञा को बदल कर, केवल उसके दाहिने हाथ के अंगुठे को कटवा कर, अपने राज्य से निर्वासित कर देने की राज-घोषणा की। तदनुसार, उसका अंगूठा कटवा कर, राज्य से उसे निर्वासित कर दिया गया। राजा का यह कठोर व्यवहार चित्रकार को बड़ा ही अखरा। उसने, मन-ही-मन, अपने उस घोर अपमान का राजा से बदला लेने का दृढ़ संकल्प किया। शनैः शनैः अब उसने अपने बांये हाथ से

चित्र निकालने का अभ्यास आरम्भ किया। " Practice makes a man" अर्थात् अभ्यास ही से मनुष्य वास्तविक मनुष्य बन सकता है। बदला लेने का दृढ संकल्प, काम में सफलता पा लेने का अटल विश्वास, और जी तोड़ परिश्रम की त्रिवेणी तट पर, उसकी वर्षों की साधना, आज सफल हुई। अब तो, वह अपने बाएं हाथ से भी वैसे ही मनमोहक चित्र निकालने लगा, जैसे कि वह अपने दाहिने हाथ से कभी निकालता था। इस बार, उसने फिर से उसी मृगावती का एक अति ही मनभावन तैल चित्र बनाया। उसे लेकर, वह उज्जैन के राजा, महाराज चण्ड प्रद्योतन के पास आया। ज्योंही, राजा ने उस चित्र को देखा, दांतों तले अँगुली दबा कर बोला, "ओह! यह कोई स्त्री नहीं है, यह तो स्वर्ग से उतरी हुई कोई अप्सरा है! भाई चित्रकार! क्या, यह किसी जीवित सुन्दरी का चित्र है, या केवल तुम्हारी कलम की कल्पना-मात्र? चित्र तो, सचमुच में, बडा ही बेजोड़ है। मैं तुम्हारा हाथ चूमता हूं।" इस पर चित्रकार ने विनम्र होकर कहा, 'राजन्! यह केवल दिमागी कल्पना और कलम की कोरी घिस-घिस ही नहीं, वरन् जिस सुन्दरी का यह चित्र है, वह आज भी इस संसार में मौजूद है। फिर, लौकिक चित्रकार और कुदरती चित्रकार में, जो जमीन आकाश का अन्तर होता है, ठीक वही अन्तर इस तैल-चित्र और उसके असली रूप सौन्दर्य में है। यह बात भी आप को हृदय से कभी भुला न देना चाहिए। यही नहीं, यह चित्र भी, मेरे बाएं हाथ के द्वारा बना हुआ है। यदि मेरा दाहिना हाथ ठीक होता, तो इस की सुन्दरता में, और भी चार चांद लग जाते।"

चित्रकार के इन शब्दों ने तो राजा के हृदय को और भी घौंसला दिया। उसने सतृष्ण नेत्रों से चित्रकार की ओर

देखा, और उसका पता पूछा। चित्रकार की मन-चीती हुई। चित्रकार के मुख से ज्यों ही कौशाम्बी के राजा शतानिक की पटरानी, मृगावती का नाम उसने सुना, उसी समय, उस परम रूप-सुन्दरी को अपने अन्तःपुर में ला रखने का, सत्य संकल्प, उसने अपने मन में कर लिया। चित्रकार का समुचित सत्कार किया गया।

राजा ने थोड़ी ही देर के पश्चात्, कौशाम्बी के महाराज के पास, अपने एक दूत को भेजा। जिसके द्वारा, उसने वहां कहला भेजा, कि "या तो मृगावती को उज्जैन के अन्तःपुर में, इस सन्देश के पाते ही, भेज दिया जाय। नहीं तो, युद्ध की तैयारी की जाय।" ज्यों ही, दूत ने कौशाम्बी के दरबार में पहुँच कर, इस सन्देश को सुनाया, राजा के शरीर में सिर से पैर तक आग लग गई। एक साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी, हिन्दू धर्म के आश्रय में पल-पुस कर, ऐसी अपमान-जनक बातों से, अपने धर्म, पौरुष और इज़्ज़त को तौहीन समझता है, तब एक राजा तो इस अपमान को सहन फिर कर ही कैसे सकता। उसने पचासों बातें दूत को खरी-खोटी सुनाईं। और, उसी क्षण, अपने दरबार से उसे निकलवा दिया। पाठको ! यदि विचार-पूर्वक देखेंगे, तो आप को जान पड़ेगा, कि महाराज शतानिक का क्रोध, कोई उस दूत के ऊपर नहीं था। यह तो, अप्रत्यक्ष-रूप से, उज्जैन के महाराज का अपमान था।

दूत उज्जैन को लौट आया। उसने अथ से इति तक सारी घटना, राजा से ज्यों-की-त्यों कह सुनाई। चंडप्रद्योतन भी इसी अवसर की टोह में था। उसने, उसी काल, अपनी सेना के नाम, कमर कस कर, कौशाम्बी के ऊपर चढ़ दौड़ने की, राजघोषणा निकाली। राजा ने स्वयं सेनापति का क़ाम, अपने

सिर-कन्धों लिया। पड़ाव-पर-पड़ाव डालते हुए, चंड-प्रद्योतन ने, दल बादल के साथ, कौशाम्बी को जा घेरा। उज्जैन के सैनिक-बल को सुन और देख कर, शंतानिक का सीना धड़कने लगा। उसकी काया काँप उठी। अब वह करता भी तो क्या? उसी दम, उसके प्राण पखेरू उड़ गये। 'दुबले को दो आषाढ़' की कहावत हो गई। कौशाम्बी का कलेजा काँप उठा। उसी समय मृगावती को एक युक्ति सूझी। उसने उज्जैन-नरेश के पास, दूत के-द्वारा-यह सन्देश भेजा, "राजा की असामयिक मृत्यु से सारी कौशाम्बी का हृदय काँप उठा है। उसी शोक की काली छाया, मेरे शरीर और मन पर भी पूरी-पूरी पड़ी है। तब मेरा सौन्दर्य पहले-जैसा रह भी कैसे सकता था? फिर, राजा का अभी तो अग्नि संस्कार तक नहीं हुआ है। कुछ ही दिनों में, शोक के ये बादल छिन्न-भिन्न हो जावेंगे। उतने समय के लिए मुझे यहीं रहने दिया जाय। मैं कौशाम्बी को छोड़ कर, जा भी कहाँ सकूंगी?" इस सु-समाचार को पाकर राजा हर्ष के मारे उछल पड़ा। साँप, बिना मारे ही मर गया, और लाठी भी न टूटी। रक्त की एक बूँद नहीं, किन्तु मृगावती ने उज्जैन के अन्तःपुर में आना अनायास ही स्वीकृत कर लिया। तब तो, वह उलटे पैरों, उज्जैन को लौट पड़ा।

इधर, मृगावती ने, विधि-पूर्वक, राजा के शव का अग्नि-संस्कार किया। और, शासन की डोर अपने हाथ में ली। थोड़े ही समय में, अपनी बुद्धि, कर्तव्य परायणता, समय-सूचकता और नीति कुशलता से, रानी ने ऐसा अच्छा शासन कर दिखाया, कि प्रजा राजा शंतानिक के सुराज तक को भूल गई। कौशाम्बी के चारों ओर एक विशाल और सुदृढ़ शहर-पनाह उसने बनाया। उसके आस-पास बड़ी ही गहरी खाई उसने खुदवादी। उसमें पानी भरवा दिया। किसी राज्य की

रक्षा, उस की सेना और अस्त्र-शस्त्रों ही पर निर्भर रहती है। यह सोच कर, सेना और अस्त्र-शस्त्रों की, उसने, अकथक वृद्धि की। सेना को शास्त्रीय ढंग से सर्वांगीण सैनिक-शिक्षा दी गई। अन्नादि रसद का इतना प्रबन्ध और संग्रह कर लिया गया, कि वर्षों तक शत्रु का सामना करते रहने पर भी, राज्य को रसद का अभाव न अखरे। यूँ, मृगावती ने, राज्य की नींव को चारों ओर से पुख़्ता कर लिया।

दीवाल के भी कान होते हैं। होते-होते एक दिन, चण्ड-प्रद्योतन ने भी इस सारी घटना को सुन पाया। यूं सुन कर, उस की आंखें खुलीं। उसी समय, एक दूत के द्वारा मृगावती को उसने अपने यहां बुला भेजा। किन्तु, आज के राजपूतों की भांति,

"खेल गये, बरछा गये; गये तीर, तलवार।
घड़ी, छड़ी, चसमा, चढ़त; छत्रिन के हथियार॥"

मृगावती तो कोई थी नहीं। उसके शरीर का ज़र्रा-ज़र्रा विशुद्ध राजपूती खून से बना हुआ था। उसने उज्जैन-नरेश के दुस्साहस एवं कुकर्मों की भर-पेट निन्दा की। और, उसी क्षण, दूत को अपने दरबार से निकलवा दिया। दरबारियों ने भी, रानी के कथन का, सोलह आना समर्थन किया। और, उसी दूत के हाथ, उन्होंने कहला भेजा, कि "हम क्षत्रिय लोग हैं। युद्ध में जूझ कर, खेत रहना, और वीर-गति का पाना, हमें अपनी जन्म-घुटी के साथ पिलाया गया है। प्राणों के मोह से, शरण जाना तो हमने कभी भूल कर भी नहीं सीखा। जाओ, अपने आततायी राजा से, खुले रूप से कह दो, कि रणांगण में, हम भी अपने दो-दो हाथ दिखा देना चाहते हैं।"

रानी और दरबारियों की बात-चीत और व्यवहार से दूत का दिल टूट गया। वह लौट कर उज्जैन को आया। और,

राजाज्ञा के अपमान को ज्यों-का-त्यों कह सुनाया। यह सुन कर, चण्डप्रद्योत के क्रोध मे एक भयकर उबाल-सा आ गया। वह, तत्काल ही, दल बल सजा कर, कौशाम्बी पर चढ़ दौड़ा।

उन्हीं दिनो, अहिंसा धर्म का प्रचार करते हुए, भगवान् महावीर, कौशाम्बी मे पधारे हुए थे। कौशाम्बी के सारे नर-नारी, भगवान् के दर्शनार्थ, सेवा मे पहुँचे। रानी मृगावती भी अपने पुत्र, उदायन को साथ ले, भगवान् की भव-मोचन वाणी का सुधारस पान करने को आई। अभी सेना तो पहुँची भी नहीं थी, कि इतने ही में, चडप्रद्योतन भी, इस सुसमाचार को पाकर, भगवान् की शरण में पहुँचगया। भगवान् की सुधामयी वाणी ने, राजा के मन की दिशा ही को, एक दम, बदल दिया। अब उस के दिल में, युद्ध की भावना का लेश-भर भी न रहा। उस के दिल मे, मृगावती के लिए जो दुर्भावनाएँ थीं, सारी-की सारी, वे सद्भावनाओं मे बदल गई। दो विरोधी दिलो मे समता और मित्रता के भाव उमड़ पड़े। थोड़ी ही देर पहले, जो दो व्यक्ति, एक दूसरे का खून चूसने के लिए छट पटा रहे थे, वेही भगवान् के पावन उपदेशों के प्रभाव से, एक दूसरे की स्थायी उन्नति में, तन मन-धन से जुट पड़े। मृगावती ने उसी समय दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। यह सुन कर, राजा को बड़ा ही हर्ष हुआ। उसने स्वय, उदायन को कौशाम्बी के राज-सिंहासन पर बिठाकर, राज्याभिषेक महोत्सव मनाया। मृगावती ने भी, राजा को, सदैव इसी प्रकार, उदायन के ऊपर अपनी कृपादृष्टि बनाय रखने का सन्देश दिया। और, अभिवचन चाहा। इस पर उज्जैन के महाराज ने, हर प्रकार से, उसे विश्वास दिला दिया। अब, अपने पुत्र की सम्मति ले कर, भगवान् के समीप, चन्दनबाला के हाथों, मृगावती ने, अपने अतुलित राज-सी वैभव को, बात-

की-घात में लात मार कर, दीक्षा धारण की। उसने अपने मुख पर मुख-वस्त्रिका बांधी; और हाथ में रजोहरण लिया। पुण्यों की प्रबलता और भगवान् की शरण को पाकर, थोड़े ही दिनों में, शास्त्रीय ज्ञान में, उसकी अच्छी पहुँच हो गई।

एक दिन, भगवान् की सेवा में, श्रीमती चन्दनबालाजी और मृगावती भी उपस्थित थीं। उस समय, भगवान् की सेवा में सूर्य-देव भी आये। तब सायंकाल हो ही रहा था। परन्तु स्वयं सूर्य-देव के वहां बैठा रहने से, सांझ भी मध्याह्न सी जान पड़ती थी। उसी अवसर पर, श्री चन्दनबालाजी तो, कुछेक सतियों को साथ लेकर, वहां से उठ खड़ी हुईं; और पौषधशाला में आ गईं। किन्तु मृगावती जी, अन्य सतियों के साथ, वहीं, मध्याह्न का भ्रम जान कर, बैठ रहीं। कुछ ही देर के पश्चात् जब सूर्य देव वहां से उठ कर चला गया, रात्रि का घोर अन्धकार वहां फैल गया। अब तो मृगावती जी, यह देख चौंक पड़ीं। और, शीघ्र ही पौषध-शाला में आ गईं। यह देख, चन्दनबालाजी ने उन्हें कहा, महाभागे ! तुम कुलीन, विनयशील और आज्ञाकारिणी होते हुए भी, इतनी देर तक, रहीं कहां? " महाभागे ! सूर्य-देव के वहां बैठा रहने से, शाम को, भ्रमवश, मध्याह्न हम लोग मानती रहीं बस, इसी से देर हो गई। इस बार तो, आप हमारे अपराध को क्षमा कीजिये। आगे से भूल कर भी, कभी ऐसी भूल हम से न होगी। " यूँ कहते हुए, मृगावती जी, चन्दनबालाजी के चरणों में गिर पड़ीं। चन्दनबालाजी ने उन के अपराध की ओर तरह देते हुए, भविष्य में उन्हें सचेत रहने की सूचना दी। तत्पश्चात् सभी महा सतियां जी ज्ञानाभ्यास में रत हो गईं। अब चन्दनबालाजी ने शयन किया। निकट ही, मृगावतीजी, अपनी भूल का पश्चात्ताप करती हुई बैठी हुई थीं। वह पश्चात्ताप नहीं

था। वह तो लोहे को सोना बना देने वाला पारस था। पश्चात्ताप, सचमुच में वह ब्रुश है, जो अन्त करण के कूड़े-करकट को झाड़-बुहारता है। या, यूँ कहा यह वह सन्-लाइट साबुन है जिससे अन्त करण का सारा मैल, बात की बात मे, कट जाता है। तब तो आत्मा का असली रूप दिख पड़ने मे, कोई आख मारें इतना भी समय नहीं लगता। उसी रात में, पश्चात्ताप करते-ही-करते, मृगावतीजी को केवल-ज्ञान का प्राप्ति हो गई। अन्त करण में, उसके उदय होते ही सारा ससार, उन्हे हाथ की रेखा के समान दिख पड़ने लगा। उसी क्षण, एक घटना घटी। एक महान् विषधर साप, चन्दनबालाजी के हाथ के बिलकुल निकट ही से निकलने वाला था, कि चट, रात के उस घने अन्धकार में भी, मृगावतीजी ने, उनका हाथ ऊपर की ओर को उठा लिया। यह सब उनके केवल-ज्ञान ही का प्रभाव था। परन्तु हाथ के उठाते ही, चन्दनबालाजी की नींद टूट गई। पास ही में बैठी हुई मृगावतीजी को उन्होंने अनुभव किया, परन्तु अन्धकार में, वे कौन थीं, पहचान न सकीं। अत उन्होंने पूछा, "कौन ?" "यह तो मैं, मृगावती आप की एक अकिंचन् शिष्या।" उस समय, उन दोनों मे नीचे का वार्तालाप हुआ।

चन्दनबालाजी—"क्या, तुम अभी तक सोई नहीं ? मेरे हाथ को ऊपर क्यों उठाया ?"

मृगावतीजी—"आप के हाथ की ओर, एक भयकर साप आता देख कर, मैने ऐसा किया।"

च०—"ऐसे घोर अन्धकार में वह तुम्हें दिख कैसे पड़ा ?"

मृ०—"आप ही की चरण-रज-कृपा के बल से। और, कुछ नहीं ?"

च०—"क्या, ज्ञान तुम्हे हो गया ?"

मृ०—"आपकी एक-मात्र कृपा के प्रभाव से।"

च०—"प्रतिपाती या अप्रतिपाती?"

मृ०—"अप्रतिपाती।"

इन बातों को सुन कर, मन-ही-मन, चन्दनबालाजी ने सोचा, कि "मृगावती, सचमुच में, महान् भाग्य शालिनी महासती हैं। इनका अन्तःकरण अति ही शुद्ध है; और इनकी साधना बड़े ही ऊँचे दर्जे की है। तभी तो, इतना जल्दी, केवल-ज्ञान इन्हें हो गया है। इतना सब होने पर भी, उपालम्भ के द्वारा, मैंने इनका महान् अपराध किया है।" यूँ, भांति-भांति के विचारों में विचरती हुई, चन्दनबालाजी ने. अपनी शिष्या, मृगावतीजी से क्षमा-याचना की; और जो उपालम्भ उन्होंने मृगावतीजी को दिया था, उसके लिए उन्होंने बार-बार पश्चात्ताप प्रकट किया। उसी समय, उन्हें भी केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई।

आइये, पाठको! अपन स्वयं ऊहापोह करें, कि अन्तःकरण के द्वारा किये गये 'पश्चात्ताप', और 'मिच्छामि दुक्कड़ं' का कितना महान् फल होता है? आदर्श सती मृगावतीजी और चन्दनबालाजी के पावन चरित्र, इस बात के प्रत्यक्ष और प्रामाणिक प्रमाण हैं। इन दोनों महासतियों ने, अपनी आत्मा की आन्तरिक पुकार से पश्चात्ताप और मिच्छामि दुक्कड़ं किया। उन्हीं के प्रताप और प्रभाव से इन्हें केवल-ज्ञान-रूपी अटूट और अलौकिक सम्पत्ति मिल पाई। क्या, हम भी इनके इस चरित्र को पढ़कर, अन्तःकरण से मिच्छामि दुक्कड़ं तथा प्राय-श्चित्त करने की शैली को, अपने दैनिक व्यवहार में उतारने की चेष्टा करेंगे? भगवन्, हम भूले-भटके संसारियों के लिए, इन महासतियों का यह आदर्श, चिरन्तन काल के लिए, दिव्य प्रकाश-स्तम्भ का काम देता रहे।

अभ्यास के लिए प्रश्न:—

[१] महाराज शतानिक के समय की कौशाम्बी के वैभव का वर्णन करो।

[२] चित्रकार की कला मर्मज्ञता, उस के प्राणों का ग्राहक कैसे बन बैठी ?

[३] कला और विद्या का अन्तर बताओ।

[४] चित्रकार के वर्षों की साधना कैसे फली ?

[५] चित्र को देख कर, चण्डप्रद्योतन के मन में, जो भाव पैदा हुए, उन का थोड़े में वर्णन करो।

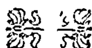
[६] शतानिक ने चण्डप्रद्योतन का अपमान कैसे किया ?

[७] "अबलाएं, अबलाएं नहीं, वरन् सबलाएं होती हैं।" मृगावती की समय-सूचकता से, इस बात को सिद्ध करो।

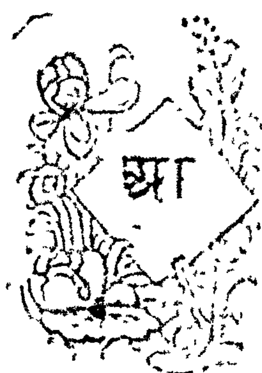
[८] सच्चे राजपूतों की आन बान मान और शान का कुछ वर्णन करो।

[९] दुष्ट से दुष्ट हृदय पर भी सत्संगति का क्या असर पड़ता है ?

[१०] प्रायश्चित और मिच्छामि दुक्कडं का अन्तःकरण पर, क्या असर पड़ता है ? मृगावती और चन्दनबाला के चरित्रों से इस बात को थोड़े में सिद्ध करो।



१० चेलना



आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष के पहले, महाराज चेटक—चेडा—की राजधानी विशाला नगरी थी। इस की धर्मपत्नी का नाम था। इस राजा के सात लड़कियां थीं। उन में से दो का नाम त्रिशला और चेलना था। त्रिशला, क्षत्रिय कुंड ग्राम के राजा सिद्धार्थ को ब्याही गई थीं, और चेलना, राजगृही के सम्राट् श्रेणिक को। त्रिशला और सिद्धार्थ, दोनों 'स्याद्' के सिद्धान्तों को मानते थे। किन्तु चेलना और श्रेणिक, दोनों के सिद्धान्तों में मत-भेद था। चेलना 'स्याद्वाद' के पक्ष में थी। किन्तु श्रेणिक उसके विपरीत पक्ष को मानता था। पति-पत्नी, दोनों में, परस्पर सदा-सर्वदा, यूँ, खण्डन-मंडन होता रहता था, कि—

चेलना—गुरू वे हो हैं, जो अहिंसा-धर्म को पूरा-पूरा पालते हों, जो कभी झूठ न बोलते हों; जो चोरी न करते हों; जो परिग्रह न रखते हों; जो ब्रह्मचर्यव्रत के दृढ़ उपासक हों; जो किसी भी धातु की कोई भी वस्तु अपने पास न रखते हों; रात्रि-भोजन को, जो पाप समझते हों; मादक द्रव्यों का, जो कभी भूल कर भी सेवन न करते हों; हाथी, घोड़े, ऊँट, रथ आदि की सवारी कभी न करते हों; जो इत्र, तेल, फुलेल, और फूलों आदि की मालाओं से, पूरा-पूरा परहेज़ रखते हों; जो

जूता भी कभी न पहनते हों, ब्रह्मचर्य ही, जिनका, एक-मात्र स्नान हो, जो अपने मुख पर मुखवस्त्रिका बांधते हों, जो शरीर के बालों का लुंचन करते रहते हों जो निर्दोष भोजन के भोक्ता हों, ऐसे ही महापुरुषों को मैं, अपना गुरु मानती हू। और, प्रार्थना करती हू, कि आप भी ऐसों ही को अपना गुरु माना करें।

श्रेणिक—रानी! तेरे गुरु ठीक नहीं होते। वे सदा मैले-कुचेले वस्त्रों ही को धारण किये रहते हैं। स्नान भी वे कभी नहीं करते। वे अपने मुंह पर कपड़े की एक पट्टी-सी बांधे रहते हैं। उनकी अन्य क्रियाएं भी निर्दोष नहीं होतीं। तू, इस लिए हमारे ही गुरुओं को मान और उन्हीं की उपासना कर। वे सदा सर्वदा साफ सुथरा रहते हैं। जैसे वे ऊपर से साफ होते हैं, हृदय भी उनका वैसा ही विशुद्ध होता है। विश्वास न हो, तो चल, मेरे गुरु अभी अभी यहीं आये हुए हैं। वे बड़े ही पहुंचे हुए पुरुष हैं। एक बार चल कर उनके दर्शन तो कर! उनसे बात-चीत तो अभी दूर रही, उनके दर्शन ही से, तेरे दिल की बहुत सी शकाएं रफू हो जावेंगी।

राजा के अत्यन्त आग्रह से, रानी उसके साथ हो ली। राजा का दिल हर्ष के मारे उछल पड़ा। वह मन-ही-मन कहने लगा, "चलो, मेरी बात का इतना असर तो, आज इस पर पड़ा। सन्तों के दर्शन से तो और भी परिवर्तन हो सकेगा।" परन्तु पाठको! यहा आपको यह भी कभी न भुलाना चाहिए, कि धर्म-परिवर्तन के मामलों में, राजा ने, कोई कठोर व्यवहार रानी के साथ, कभी नहीं किया। वह भली-भांति जानता था, कि ऐसे मामलों में जबर्दस्ती करना कराना पाप है। इन मामलों में, चाहे स्त्री हो, या पुरुष, सभी को समान अधिकार है। इस के विपरीत, जो लोग, अपनी नव विवाहिता बहू-बेटियों के

साथ, धर्म-परिवर्तन के मामलों में, सख्ती का व्यवहार करते-कराते हैं। वे केवल ढकोसले के उपासक हैं! धर्म के पहलू को तो, वे बेचारे जान ही क्या सकते हैं? सचमुच में, वे नरक-गामी जीव हैं। यदि धर्म, परिवर्तन ही की कोई वस्तु है तो कल, कुत्तों से भी गायों का, और गायों से हाथियों का धर्म-पालन की चेष्टा करनी चाहिए। अतः उन नव-विवाहिता बहू-बेटियों का भी कर्तव्य है, कि जिस धर्म पर, अपने जीवन से वे चलती आ रही हैं, और उसकी भलाइयों को भली-भांति उन्होंने समझ भी लिया है, तो कैसी ही कठिनाइयां उन पर क्यों न ढहाई जाये, अपने प्राण रहते, वे कभी उससे विरत न हों। देवियो! यह नश्वर शरीर तो कई बार मिला, और आगे भी मिलता रहेगा, परन्तु सम्यक् धर्म बारम्बार नहीं मिलता। सभ्य देशों में भी यही प्रथा है, कि पति, पत्नी के शरीर का साथी और हक़दार है; परन्तु पारलौकिक मामलों में हस्तक्षेप करने का, उसे कानूनी हक़ नहीं। हां, सुमति और स्नेह से शांति बनाये रखना प्रत्येक कुटुम्बी का पहला कर्तव्य है, परन्तु अपने पारलौकिक पथों को सुलझाने में प्रत्येक कुटुम्बी पूर्ण स्वतन्त्र और स्वच्छन्द है।

रानी चेलना, राजा के गुरुओं के पास पहुंची। वहां जा कर, अपनी सभ्यता का पूरा-पूरा परिचय उसने दिया; और बैठ गई। राजा भी नमन करके बैठ रहा। स्याद्वाद की कट्टर अनुयायिका, चेलना को सामने देख, उन गुरुओं को बड़ा ही अचरज हुआ। राजा ने अपने इशारों से कहा, कि आज समझाने-बुझाने पर चेलना, यहां तक आ पहुंची है। इसके दिल पर, अपने धर्म की छाप बैठाने की भर-सक कोशिश की जाय। तदनुसार, गुरुओं ने काफ़ी चर्चा की। परन्तु रानी की तार्किक बुद्धि देख कर, उन गुरुओं की सारी दलीलें, कुण्ठित-सी हो

गई। अन्त में, जब उन्हें कोई युक्ति न सूझी, तब उन्होंने बात-चीत का रुख बदल कर, चेलना से कहा तुम्हारे अमुक अमुक सम्बन्धी, मर कर, हिरन की योनि में गये। उनकी इस बुद्धि पर, रानी को बड़ी ही तरस आई। वह बोली, "महाराज ! जब आप त्रिकाल-दर्शी हैं, तब तो निश्चय पूर्वक, कल, आप, राज-महलों ही मे भोजन कीजिये।" इस पर, उन्होंने समझ लिया, कि अब हमारी सब प्रकार से बन पड़ी। राजा ने भी रानी की बात का समर्थन किया। गुरुओं ने अपनी मन चीती जान, "हा अच्छा" कह दिया।

दूसरे दिन, समय पर भोजन की तैयारियां हुई। गुरु-लोग आये। अपनी कपड़े की जूतियें उन्होंने उतारीं, और अन्दर, भोजन के लिए, महलो में प्रवेश किया। उस समय, रानी का इशारा पाकर, उसकी एक दासी ने, उनमें से मुखिया गुरु की जूतियों को, कहीं छिपादी। भोजन के पश्चात्, जब वे लोग जाने लगे तब उन जूतियों के लिए, बड़ी सरगर्मी से भाग-दौड़ मची। उसी समय, अवसर जान, रानी ने कहलाया, "अजी महाराज ! आप तो भूत, भविष्य और वर्तमान, तीनों कालों के ज्ञाता है। तब आपको यह तक खबर नहीं, कि आपकी खुद की जूतिया कहा है ? और, जब, इतना तक आप नहीं जानते, तो कल जो बात मेरे सम्बन्धी के सम्बन्ध में आपने कही थी, वह सत्य कैसे हो सकती है ?" रानी के इस सन्देश को सुन कर, उन लोगों का सिर नीचा हो गया। और, सीधे, वहा से चलते ही बने। राजा भी, रानी की इस तार्किक बुद्धि को देख कर, सिट-पिटा गया।

एक बार, रानी के गुरू, महलों में, गोचरी के लिए आये। रानी ने दूर ही से अपनी तीन अँगुलियों के द्वारा उन्हें जताया,

कि यदि तीन ज्ञान के धारण करने वाले आप हों, तो आइये; नहीं तो नहीं। क्योंकि, राजा, आप लोगों को छलने के लिए बैठा है। बदले में, उन मुनि ने अपनी चार अँगुलियां दिखा कर, उसे जतला दिया, कि हमारे पास चार ज्ञान हैं। यूं, कह कर, वे आगे बढ़े। उसी समय, राजा ने उनका स्वागत करते हुए कहा, "पधारिये, महा प्रभु!" परन्तु मुनि, उसी समय, वहीं-के-वहीं ठिठक रहे। क्योंकि, राजा ने रेती में सरसों फैला रखी थी। तब तो, वे मुनिराज, उचित कारण बता कर, वहीं से उलटे पैरों लौट पड़े। राजा ने यहां भी अपनी हार मानी।

एक दिन, फिर ऐसा ही मौका आया। एक मुनि महलों में आये। रानी ने वहां अपनी अँगुलियों का इशारा उनसे भी किया। बदले में उन्होंने पहले ही जैसा उत्तर देकर, उसका सन्तोष कर दिया। इस बार, राजा ने सड़क के नीचे वाले एक तल घर में, किसी गर्भवती बकरी को बांध दिया था। ज्योंही मुनि वहां पहुंचे, अचानक ठिठक रहे। राजा ने उनका स्वागत करते हुए कहा, "मुनि-नाथ! पधारिये न! वहीं रुक कर क्या देख रहे हैं!" बदले में, मुनि बोले, "राजन्! नीचे दो जीव है।" इस पर, राजा ने मुनि को झूठा ठहराने की चेष्टा की। मुनि ने तब कहा, राजन्! एक ही नहीं, वरन् अब तो दो जीव हैं।" यह सुन करके तो राजा ने उन्हें सोलह-आना गप्पी समझा। परन्तु जांच करने पर, मुनि की बात सोलह आना सत्य निकली। बकरी, इस बीच बच्चा जन चुकी थी। राजा की यहां भी करारी हार हुई।

एक बार, फिर कोई मुनि, उसी बस्ती में, आकर कहीं ठहरे हुए थे। राजा को यह बात जब मालूम हुई, एक रात में, अवसर तक कर, किसी वैश्या को, उस मकान में, उसने बन्द करवा दी। और, मकान को ताला लगवा दिया गया। रानी

के पास पहुँच कर, राजा ने मुनियों को चरित्र-हीन सिद्ध करने में कोई कोर-कसर न रक्खी। परन्तु जब रानी, राजा की उन दलीलों से सहमत न हुई, तब तो कुछ आवेश दिखा कर राजा बोला, "अच्छा, ठीक है। सुबह होते ही जान पड़ेगा, कि मुनि कैसे होते है!" रानी ने इस पर भी विश्वास पूर्वक कहा, "मेरे गुरू, पूर्ण ब्रह्मचारी होते है। यह बात कभी हो नहीं सकती। परन्तु हा, ये चरित्र हीनता की बातें, आप के गुरूओं पर तो भली-भाति लागू होती है। इस पर, राजा ने चुप्पी साध ली, और सुबह होने की प्रतीक्षा करने लगा।

उधर मुनि ने जब देखा, कि यह काम, किसी द्वेषी जीव की करामात का फल है, तब तो अपनी लब्धी को फोड़ कर, वस्त्र तथा पात्रों को, उसी समय, भस्म कर दिया। और, अपने आप को राजा के गुरू के रूप में बदल लिया। उन्होंने, भस्म कर देने की धमकी दिखा कर, वैश्या को अपने से दूर रहने की सूचना दी। बेचारी वैश्या, मुनि के तप-तेज को देख कर डर गई, और थरथराती हुई, दुबक कर एक कोने मे बैठ रही। प्रात काल के होते ही, राजा, रानी, तथा अनेकों प्रतिष्ठित नागरिक लोग वहा पहुचे। ताला खोला गया, तो भीतर से राजा ही का गुरू निकलते नजर आया। रानी हंस पड़ी। और, अनेकों प्रकार से ताने मार-मार कर, उसने राजा को लज्जित कर दिया। यह अनहोनी बात देख कर, राजा ने कहा, 'यह अघटन घटना हो कैसे गई! रानी के मुनि गये तो किधर! और मेरे गुरू, ये आये तो वहा से! यू, एक नहीं, वरन् बीसियों बार, जब-जब इस परीक्षा के मार्ग में राजा उतरा, तब-तब अपने मुंह ही की उसने खाई। अन्त में, एक दिन, अनाथी मुनि के दर्शन और सत्संग से स्वयं राजा भी स्याद्वादी बन

गया। और, उसकी मृत्यु के बाद, रानी ने दीक्षित होकर, आत्म-कल्याण किया।

अभ्यास के लिए प्रश्न—

[१] सच्चे गुरू के लक्षण बताओ।

[२] धर्म के मामलों में राजा ने, कब-कब, और कैसी-कैसी हार खाई ?

[३] परलोक के मामलों में स्त्री और पुरुष स्वतन्त्र हैं। कैसे ?



११ पुष्पचूला



कई शताब्दी के पहले, हमारे भारत-वर्ष में, पूर्व दिशा की ओर, गंगा नदी के तट पर, 'पुष्पभद्र' नामक एक बड़ा ही रमणीय नगर था। उन दिनों, महाराज पुष्पकेतु वहां के राजा थे। हो सकता है, इन्हीं महाराज के नाम पर, राजधानी 'पुष्पभद्र' की नींव पड़ी हो। उन की रानी का नाम पुष्पावती, पुत्र पुष्पचूल, और पुत्री पुष्पचूला थी। इन दोनों भाई-बहिनों के बीच इतनी गाढ़ी और विशुद्ध प्रीति थी, कि एक के बिना दूसरे को एक घड़ी भर भी चैन नहीं पड़ता था। थोड़े में, एक को यदि हम शरीर कहें, तो दूसरा उसका प्राण था। दोनों भाई-बहिन पढने को जाते, तो साथ-साथ, खाने को बैठते, तो एक ही समय और एक ही साथ, खेलने को निकलते, तो साथ। यही नहीं, उनकी मनो-वृत्ति भी एक ही-सी थी। जब ये दोनों, तरुणाई में आये, राजा ने इन दोनों के सम्बन्ध में, एक नया ही शोध ढूंढ निकाला।

राजा ने एक दिन आम दरबार भरा। उस में नगर के सभी प्रतिष्ठित पुरुष और राज कर्मचारी उपस्थित थे। जब, वे सभी लोग अपने-अपने निर्धारित स्थानों पर आ आकर बैठ गये, राजा ने उनके सामने, एक बड़ा ही विचित्र प्रश्न पेश किया। उसका आशय था, "राज्य की सम्पूर्ण वस्तुओं

पर, राजा का अधिकार है, या नहीं ? यदि हां, तो वह, जैसे और जहां भी, उनका उपयोग और उपभोग करना चाहे, कर सकता है, या नहीं ?"

प्रश्न को सुनते ही, सभा में सन्नाटा छा गया। सभी लोग बड़े ही असमंजस में पड़ गये। वे मन-ही-मन सोचने लगे, "अपने इस विचित्र कथन के द्वारा, राजा, आज, किस बात का, किस चीज का उपयोग और उपभोग लेना चाहता है ? यूं तो, राजा, प्रजा का पिता कहलाता है। उसका तो सदा-सर्वदा यही काम है, कि वह अपनी प्यारी प्रजा का, जो संतति के समान होती है, सोते-जागते, उठते-बैठते, और खाते-पीते, प्रतिपल, कल्यान-चिन्तन करता रहे। उनके पालन-पोषण और रक्षण के नये नये साधन, वह ढूंढ़ निकाले। तब, आज, हमारे राजा के मन में, यह उपयोग और उपभोग की भावना का भूत घुसा, तो कैसे ? नहीं जान पड़ता, किस अबोध और असहाय अबला का शील-व्रत, पैसों और कौड़ियों में बिकना चाहता है ? राजा के इन विचारों से, आज, न जाने, किस के प्राणों से भी प्यारे, और हीरों-पन्नों से भी अधिक महँगे, धर्म को, धक्का लगने वाला है ? उनके दिलों में, यूं भांति-भांति के विचार उठने लगे। समुद्र-मन्थन की-सी गड़बड़ी उनके हृदयों में मचल उठी। अन्त में, शक्ति और सत्ता के सामने, विद्या और विवेक, तथा धर्म और बुद्धि की, चलती ही कितनी है ! सभी ने दबी ज़बान से, किन्तु एक स्वर से कहा, "हां, राज्य की सारी वस्तुए राजा ही की होती हैं। जब चाहे तब, जहां चाहे वहां, और जैसे भी चाहे वैसे, उन्हें काम में ला सकता है; और उनका उपभोग भी वह कर सकता है।"

इस उत्तर को सुन कर, राजा उछल पड़ा। और बोला, "बस, मेरा यही तुमसे पूछना था। सुनो, मेरे एक पुत्र और

एक पुत्री है। उनका प्रेम बड़ा ही विशुद्ध और आदर्श है। दोनों ही विद्या, बुद्धि, बल, एवं गुणों में एक-से हैं। रूप उन का बड़ा ही सुन्दर और शरीर उनका बड़ा ही सुघड़ है। अब, दोनों, वे विवाह के योग्य हो गये हैं। मेरी प्रबल इच्छा है, मैं उन दोनों भाई-बहिनों को, विवाह के बन्धन में बांध कर, पति-पत्नी का रूप दे दूं।" इस अनहोनी और अधार्मिक बात को सुनकर, सभी दरबारियों के कान खड़े हो गये। वे भौंचक्के-से होकर, एक-दूसरे की बगलें तकने लगे। उनके मुंह पर मनों के ताले लग गये। किसी के मुख से 'चूं' तक की आवाज न निकली। यह देख, राजा ने फिर पूछा, "क्या, यह बात अशक्य या अघटित है? यदि नहीं तो फिर तुम्हें वेजवात होने और हिचकिचाने की बात ही कौनसी है! फिर, यह भी तो, तुम्हारे ही मुँह का न्याय है, कि मेरी वस्तुओं पर, मेरा पूरा-पूरा अधिकार है। मैं जैसे भी चाहूं, जहां भी चाहूं, उन का उपयोग और उपभोग कर सकता हूं।" यूं कह-सुन कर, उसने अपनी सोची हुई बात को कार्य में लाने का, दृढ संकल्प अपने मन में कर लिया। और, दरबार बर्खास्त हो गया।

यह सन्देश, सारे राज्य में बिजली की भांति फैल गया। सभी ने, मन ही मन राजा के इस अनहोने काम की निन्दा की। इस के सिवाय, वे और कर ही क्या सकते थे। रानी के कानों पर भी यह बात पड़ी। तब तो वह तिलमिला उठी। वह लड़खड़ाते पैरों से दौड़ती हुई राजा के पास आई। उसने अनेकों प्रकार की प्रार्थनाएं करते हुए, राजा को, इस अनहोने और लोक-विरुद्ध काम के करने से रोका। उसके इस काम को, शास्त्र, धर्म, विज्ञान, और लोक मत से, बड़ी ही विनम्रता बुद्धिमानी, और गम्भीरता के साथ, अन्याय-पूर्ण और अयु-

क्ति-युक्त सिद्ध कर दिखाया। रानी की बातों को सुनकर, राजा गर्मा गया। वह बोला, " तुम बावरी हो। तुम्हें अभी कोई ज्ञान ही नहीं है। तुम्हारा सारा तर्कवाद, केवल कानों द्वारा सुनी-सुनाई बातों ही के आधार पर है। प्राचीन शास्त्रों का अनुभव-जन्य और आंखों देखा ज्ञान, तुम में नाम को भी नहीं। तुम अबला और अबोध नारियों को, सिवाय वितण्ड.वाद के, और आता ही क्या है ! तुम तो फूँक से पहाड़ को उड़ाना चाहती हो; और तोले तथा माशों के नपनों से, समुद्रों को नापना और तौलना चाहती हो। इसलिए भला तो तुम्हारा इसी में है, कि इन प्रपंचों के फेर में, तुम कभी भूल कर भी न पड़ा करो। फिर, तुम्हारा धर्म और कर्तव्य भी तो, तुम्हें यही कहता है, कि तुम बिना किसी भी प्रकार के चूँ-चपट के, अपने पति-देव की आज्ञा को मन, वचन, और कर्म से सदा मानती रहो। बस, इसी में तुम्हारा श्रेय और जीवन है।" इस के उत्तर में, रानी ने कहा, " हां, देव ! यदि पति का कहना न्याय-युक्त और धर्म-सम्मत हो तो हम नारियां, उसे एक बार ही क्यों, सौ बार मानने के लिए तैयार हैं। इतिहास इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है, कि अपने पति-देव की आज्ञा को मानने के लिए, हम नारियों ने, समय-असमय, हजारों बार, अपने प्राणों की बाज़ी तक, हँसते हँसते लगा दी है। परन्तु अपने पति-देव के अन्याय-पूर्ण और धर्म-विहीन आज्ञा को मानने के लिए, हम नारियां किसी भी प्रकार तैयार नहीं। आज का पुरुष-समाज, हमें यूँ दम-दिलासा देकर और डांट-डपट कर ही, हमें अपने पैरों-तले रौंद रहा है परमात्मा उनकी आत्मा को शक्ति दे। जिससे, वे कम-से-कम, अपने ही जीवन, अपने ही रक्षण, और अपना ही मनोरंजन के लिए तो, ऐसा कभी न किया करें हम नारियां, पुरुष-जाति की अर्द्धांगिनियां हैं। हमारे

कोढिया होने पर, पुरुष समाज उस कोढ की खाज और प्राण-नाशक सड़न से कभी बच नहीं सकता। आज या कल, उसे अपनी समझ और करणी का फल मिलेगा, और अवश्य मिलेगा।"

रानी की इन खरी खोटी बातों को सुन कर, राजा, आग बबूला हो गया। उसने रानी को आगे बोलने से बिलकुल रोक दिया। और कहा "रानीजी! अच्छा!! तुम से पूछेंगे!!! चलो, चलो! अपने अन्त पुर में प्रवेश करो, और वहाँ के मामलों को सुलझाओ! अन्त:पुर के बाहर का काम, मेरे ऊपर छोड़ दो!' बेचारी रानी, तब तो, अपना सा मुँह लेकर, रनिवास की ओर चल पड़ी।

राजा को तो, अपनी मनचीती करनी ही थी। तत्काल ही उसने ज्योतिषियों को बुला भेजा। विवाह का मुहूर्त निकलवा लिया। और निश्चित तिथि पर, दोनों भाई-बहिनों का परस्पर विवाह कर दिया। रानी और सारी प्रजा, ताकती ही रह गई। शेर के मुह में, हाथ देता भी, तो कौन? शाम हुई, पुष्पचूल, पुष्पचूला के महलों में गया। और बोला, —

प्रिये!

पुष्पचूला—भाई!

पुष्पचूला—भाई? अब, भाई कैसा? अब, मैं तो, तुम्हारा पति हूँ।

पुष्पचूला—भाई! भाई होकर भी, कोई पति हो सकता है? यह प्रथा तो, पशुओं और परिन्दों तक में नहीं पाई जाती। फिर, तुम और हम तो, मनुष्य हैं, पढ़े लिखे प्राणी हैं। शास्त्रों को मानते हैं। धर्म का मर्म जानते हैं। भाई! अपने पिताजी तो, गई-बीती बुद्धिवाले हैं। इसमें, उनने तानिक भी न सोचा,

कि ऐसा करने से, अपन दोनों के बीच, इस नये सम्बन्ध के बांधने से, वंश, जाति, विज्ञान, धर्म, और लोक-मर्यादा पर, कौन-कौन से कुठाराघात होंगे! प्यारे भाई! अपन सहोदर हैं। इसलिए मेरी समझ में तो, पिताजी का यह काम, केवल बच्चों का-सा, नादानी लिए हुए ही हुआ है। इस जीवन में तो अपन दोनों, पति और पत्नी बन नहीं सकते।

पुष्पचूल—ठीक! मैं भी, पिताजी के विचारों से, दिशा भूल गया था। अब, तुम जो कहती हो, मेरी समझ में आ गया। मैं उसके अक्षर-अक्षर का, प्राण रहते पालन करूँगा। सदा की भांति, जैसा चला आ रहा है, तुम मेरी प्यारी बहिन और मैं तुम्हारा दीन-हीन, भाई हो, आपस में बने रहेंगे।

पुष्पचूल ने अपनी यह टेक आजीवन निवाही। संसार की आंखें, उन दोनों को, चाहे पति और पत्नी ही के रूप में, देखती रही हों; परन्तु उन दोनों की धार्मिक तथा मनुष्यता की आंखों में, वे भाई और बहिन ही आपस में थे। इस के सिवाय, वे और कुछ नहीं थे।

कालान्तर में, राजा और रानी दोनों का स्वर्गवास हो गया। तब पुष्पचूल राजा बना। विचरते-विचरते कुछ साध्वियां उसकी राजधानी में आईं। उनके उपदेश से पुष्पचूला के मन में, संसार के प्रति वैराग्य के भाव उमड़ आये। उसने दीक्षित हो जाने के लिए, अपने भाई से आज्ञा मांगी। उसने स्वीकृति देते हुए कहा, यदि साध्वीजी यहीं सदा विराजती रहें; तो मुझे इस में कोई आपत्ति नहीं। साध्वीजी ने इस बात को स्वीकार कर लिया। पुष्पचूला ने दीक्षा धारण कर ली। उसी क्षण से, उसका जैसा स्नेह उसके भाई के प्रति था, वैसा ही प्राणी-मात्र के लिए हो गया। वैयावृत्त करने के साथ-

ही साथ सती पुष्पचूला ज्ञानाभ्यास और ध्यानाभ्यास भी खूब ही करती रही। तप भी उसका कुछ कम नहीं था। यूँ, एक दिन, उसके चारों घन-घाती कर्मों का नाश हो गया। उसी समय, उसे कैवल-ज्ञान हो आया। फिर भी, पहले ही के समान वैयावृत वह करती रही; और अपनी गुरुआणी की सेवा शुश्रूषा में कोई कमी, उसने, न होने दी।

एक दिन, सती की चेष्टाओं से, उसकी गुरुआणीजी को ज्ञात हो गया, कि उसे ज्ञान हो आया है। उन्होंने उससे पूछा, "पुष्पचूला ! क्या, तुम्हें कोई ज्ञान हो आया है ?" 'आपकी कृपा।" उत्तर में सती ने कहा।

गुरुआणी—प्रतिपाति अथवा अप्रतिपाति ? (जो ज्ञान नाश हो जावे, वह प्रतिपाति, और जिसके होने के बाद, मोक्ष की प्राप्ति सुलभ हो जावे वह अप्रतिपाति ज्ञान है)।

पुष्पचूला—आप की अपार कृपा से अप्रतिपाति ज्ञान हुआ है।

गुरुआणी—देवि ! तुम धन्य हो। तुम्हारे सारे अपराध, आज क्षमा हो गये तुम्हारे आजीवन बाल ब्रह्मचर्य की कठोर साधना, आज पूरी-पूरी सफल हो गई।

पुष्पचूला ने कैवल ज्ञान प्राप्त कर, अपना तो आत्म-कल्याण किया ही; परन्तु संसार का भी बड़ा भारी हित-साधन किया। और अन्तिम समय में, अपने सम्पूर्ण घन-घाती कर्मों का नाश कर, वह मोक्ष में जा विराजी। बाल ब्रह्मचारणी सती देवि ! तुम्हें बार बार वन्दना। तुम सी माताएं, नारी-जगत् का दिव्य आभूषण है।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] पुष्पचूला और उसके भाई की प्रीति का कुछ वर्णन करो।

[२] राजा को एक दिन कौन-सी अनोखी सूझ सूझी ?

[३] उस सूझ के लिए राजा और रानी में क्या वाद-विवाद हुआ ?

[४] विवाह के पश्चात्, पुष्पचूला ने किन प्रबल प्रमाणों से, अपने शील धर्म को बाल-बाल बचाते हुए, अपने भाई को सुमार्ग पर लगाया ?

[५] प्रतिपाति और अप्रतिपाति ज्ञानों का अन्तर समझाओ।



१२ सुभद्रा



ज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले, हमारी इस भारत वसुन्धरा में, वसन्तपुर नामक एक नगर था। वह व्यापार का बड़ा भारी केन्द्र था। इसी कारण, लक्ष्मी, वहां गली-गली में निवास करती थी। सब प्रकार की मनोहरता भी, उसके कोने कोने में, खूब ही छिटक रही थी। उस नगर में अनेकों लोग, जैन श्रावक निवास करते थे। उन में से एक का नाम 'जिनदास' था। 'जिनमति' उसकी भार्या और 'सुभद्रा' उसकी पुत्री थी। सुभद्रा के स्वभाव पर, उसके बालकपन से ही धार्मिक संस्कारों की पक्की छाप लग चुकी थी। जब उसकी माता सामायिक करने को बैठती, सुभद्रा भी साथ में वैसा ही करने लग जाती। वह, यदा-कदा, अपनी माता से, भोले भाले और लड़खड़ाते हुए शब्दों में कहती, 'मा! मुझे भी एक छोटी सी मुहपत्ति बनादे। मैं भी उसे अपने मुह पर बाधूंगी।" कभी वह नौकरवाली (माला) को हाथ में लेकर फिराने लग जाती। माता-पिता, अपनी पुत्री की इन बातों को देख-देख कर, मन-ही मन, बड़े प्रसन्न होते।

जिनिमति ने अपनी पुत्री को धार्मिक शिक्षण देना प्रारम्भ किया। सुभद्रा के मन की रुचि भी, उस ओर, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, उसके बालकपन ही से थी। इसीलिए, वह

थोड़े ही परिश्रम से, नवकार मन्त्र, सामायिक, प्रतिक्रमणादि, तथा नव तत्त्व, पच्चीस बोल, और गुण-स्थानादि तत्त्वों के बोल सीख गई। अब तो धर्माचरण के साथ, सुभद्रा का चोली-दामन का साथ हो गया। पुत्री के इस धर्मानुराग को देख, उसके पिता, जिनदास ने दृढ़ प्रतिज्ञा की, कि "मैं अपनी पुत्री का वैवाहिक सम्बन्ध, किसी योग्य श्रावक और कट्टर जैन-धर्म-प्रेमी ही के साथ करूंगा। यदि ऐसा न किया गया, तो लड़की का जीवन संकट में पड़ जावेगा।" तदनुसार, जिनदास, अब, रात-दिन, किसी ऐसे ही वर की खोज में रहने लगा।

उसी वसन्तपुर में, एक बार, चम्पानगरी का निवासी, बुद्धचन्द्र नाम का बौद्ध-मतावलम्बी, बीस-बाईस वर्ष का एक नवयुवक व्यापारी आ निकला। एक दिन सुभद्रा उपाश्रय से अपने घर को जा रही थी, उसी समय बुद्धचन्द्र ने कहीं उसे देख लिया। उसके अनुपम रूप-सौन्दर्य और अलौकिक गुण-धर्मादि को देखभाल कर, उसने, उसके सम्बन्ध में, अपने परिचित किसी दूकानदार से पूछा, कि यह कौन है? किसी का पुत्री है? कहां रहती है? अभी तो यह कुमारी ही जान पड़ती है?

दूकानदार—इससे आप को कोई मतलब?

बुद्धचन्द्र—मानुषी स्वभाव ही तो ठहरा! मैं तो यों ही पूछता हूं।

दूकानदार—यह, जिनदास श्रावक की पुत्री है। हां अभी यह कुमारी ही है। इस के पिता खोज में हैं, कि कोई कट्टर धर्म-प्रेमी, स्वधर्मी बन्धु, इस के रूप, गुण, स्वभाव, और आयु के अनुसार मिल जावे, तो इस का विवाह सम्बन्ध, वे उस के साथ कर दें। वर के योग्य बालक तो अनेकों ही आ रहे

और गये, परन्तु किसी में कोई एक कमी रहती है और दूसरे में कोई दूसरी।

बुद्धचन्द्र ने, उस दूकानदार के कथन का लाभ उठा लेना चाहा। उसने मन-ही-मन कहा, "अच्छा है, मैं ही क्यों न सुभद्रा को पाने का प्रयत्न करूँ? रूप, उम्र, और गुणादि में तो मैं उसके अनुरूप हू ही। यदि कोई कमी है, तो केवल यही कि मैं जैन-धर्मी नहीं। इसलिए, मैं, जैन धर्म को धारण कर लू। और, जिन दास के प्रति अधिक-से अधिक अनुराग, समय-समय पर, प्रकट करता रहू।" इस विचार से, उसने चम्पानगरी को छोड़, वहीं अपना निवास कर दिया। अब तो नियम पूर्वक, वह, प्रति-दिन, जैन-मुनियों के प्रवचन सुनने के लिए आने-जाने लगा। यही नहीं, धर्माचरण के लिए, एक नव सिक्खाड़, जितने भी प्रकार के नखरे कर सकता है, वह भी उन सभों को एक-एक करके करने लगा। कुछ ही दिनो के पश्चात्, वह मुँह पर मुँहपति बाधने और सामायिक करने लगा। व्याख्यान के समय, वह लोगों की दृष्टि में बड़ा ही एकाग्र चित्त होकर, बैठा नजर आता। वह, मुनिराजों की वाणी को बड़ी श्रद्धा से सुनता। और, बीच-बीच में, बनावटी हसी से हस कर, उन की उस वाणी के प्रति, वह अपने सिर को हिलाते हुए भारी अनुराग भी प्रकट करता जाता। बुद्धचन्द्र व्यापारी था। यहा भी, उसने उसी व्यापारिक नीति से दाव पेंच खेलना प्रारम्भ किया। वह अपनी इस नीति से, अधिक-से अधिक, और बड़े-से-बड़े, तथा छोटे-से छोटे ग्राहकों को, दूसरे व्यापारियों की ओर से फोड़ कर, अपने स्वार्थ साधन के व्यापार की नींव को मजबूत बना लेना चाहता था। इसी नीति का अनुसरण करते हुए, समय समय पर, वह प्रत्येक मुनि राज को परमादर की दृष्टि से देखता, और उन

का आवश्यकता से अधिक, आदर-सत्कार, तथा प्रशंसा करता। जब कभी, कोई मुनिराज तत्त्व-चर्चा करते, तब-तब वह यूँ नज़र आता, मानो वह सचमुच में आनन्द-सागर में डूब रहा हो। अपने इन कामों से, उसने आस-पास के समस्त लोगों पर, एक जादू का-सा असर डाल दिया था। वे सब-के-सब, उसे दृढ़ नेमी और कट्टर धर्म-प्रेमी श्रावक समझने और मानने लगे थे। उन में, धर्म के नाम पर, किसी की प्रशंसा का कोई अवसर कभी आता, तो उन में से प्रत्येक की अँगुली, सब से-पहले, बुद्धचन्द्र ही की ओर उठती। वे आपस में कहते " धर्म के तत्त्व को समझ कर, यदि काम में किसी ने लाना सीखा है, तो केवल बुद्धचन्द्र ही ने। अपना धर्माचरण तो, केवल उपाश्रय ही की चाहर-दिवारी का है। परन्तु बुद्धचन्द्र की तो, नस और नाड़ियों में वह उत्तर चुका है। यदि कोई श्रावक हो, तो ऐसा हो। "

सुभद्रा के पिता, जिनदास ने भी बुद्धचन्द्र को ठीक वैसा ही देखा, जैसा कि लोगों के द्वारा, वह उसके सम्बन्ध में सुन रहा था। वह, उसके धर्म-प्रेम, नेम-नियम, रूप-राशि, वाक्-चातुरी, और गुणों पर रीझ गया। जब उसने अपनी पुत्री के अनुरूप उम्र भी उस की देखी, तब तो वह और भी आनन्दित हो उठा। जिनदास ने मन-ही मन कहा, " वर्षों से, जिस प्रकार के वर की खोज में, पैसे को पानी की भांति मैंने बहाया है, आज, घर-बैठे, वह अनायास ही मुझे मिल रहा है। मैं, इस शुभ अवसर का सदुपयोग, क्यों न कर लूँ! पुत्री की उम्र भी अब विवाह के योग्य हो गई है। यदि इस अवसर को हाथ से सटका दिया, तो न जाने, अपनी इस भयंकर भूल का प्रायश्चित, मुझे किस रूप में करना होगा! अच्छा हो, शीघ्र-से-शीघ्र, किसी बहाने इसे अपने घर पर बुलाकर, सारे

कुटुम्बियों की निगाहों में इसे निकलवा दूँ।" यही सब सोच-विचार कर, जिनदास ने, बुद्धचन्द्र को, किसी नियत दिन, अपने यहा भोजन करने को आमन्त्रित कर दिया।

बुद्धचन्द्र तो इस प्रतीक्षा में था ही। उसकी सारी साधनाएं ही एक मात्र इसी के लिए थीं। उसने, आज, अपनी कई महीनों की कठिन किन्तु मज़ेदार साधना को सफल हुए देखा। उस का हृदय बाग बाग हो गया। उसने अपने सिर को हिलाते हुए, 'अच्छा', जिनदास की बात के उत्तर में कहा।

वह दिन आया। बुद्धचन्द्र नियत समय पर, जिनदास के घर, भोजनार्थ पहुँचा। अभी थाली परोसी जानेवाली ही थी, कि उसके कुछ ही पहले वह बोला, "अजी, जरा सुनिये तो, आज घी, दूध, और दही, इन तीन विगयों के अतिरिक्त, अधिक विगयो को खाने का, परित्याग मैं ने किया है। इस लिए, थाली परोसते समय, इस बात को ध्यान में रखिये।" बुद्धचन्द्र के इन वचनों ने, जिनदास के हृदय मे उस के लिए और भी ऊँचा स्थान बना दिया। वह समझ गया, कि बुद्धचन्द्र, कट्टर जैनी है। अभी कुछ ही क्षण बीते होंगे, कि बुद्धचन्द्र फिर बोला, "आज, मुझे दस द्रव्यों से अधिक द्रव्य भी खाना नहीं है। अत परोसते समय, भोजन मे द्रव्यो का भी ध्यान रखियेगा।" बुद्धचन्द्र के ये शब्द, उस की मनोरथ-सिद्धि के लिए, और भी कारगर हो गये। जिनदास, अब, अधिक समय तक, अपने हृदय के भावों को, रोक न सका। तब, उन दोनों में, यूँ बात चीत हुई।

जिनदास—कुमार! मैं तुम्हारे गुण, रूप, और धर्म प्रेम पर, बार-बार निछावर होता हूँ। और, हृदय से चाहता हूँ, कि अपनी प्राण-प्यारी पुत्री, सुभद्रा का विवाह, मैं, तुम्हारे

साथ कर दूँ।

बुद्धचन्द्र—महानुभाव ! मैं, इस सम्बन्ध में, कह भी क्या सकता हूँ। मेरे पूज्य माता-पिता जानें; और आप जानें। इस मामले में, मैं तो, एक बिलकुल अनजान-सा हूँ।

जिनदास—हां, यह तो सब होगा ही। परन्तु, इस सम्बन्ध में, पहले, तुम्हारे विचार भी तो कुछ जान लिये जायें।

बुद्धचन्द्र ने जिनदास की बात का उत्तर, केवल नीचा सिर कर के, और मौन रह कर ही दिया। वह मुंह से, इस बार, कुछ न बोला।

जिनदास ने, तब, अनेकों अनुकूल साधनों के द्वारा, बुद्धचन्द्र के माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर ली। और, अन्त में, अपनी पुत्री का विवाह, बड़ी धूम-धाम से, बुद्धचन्द्र के साथ कर दिया। अब सुभद्रा, पत्नी बन कर, अपनी ससुराल को गई। वहां पहुँचने पर, एक-दो ही दिनों में, उसने भली भांति जान लिया, कि उसके सारे पारिवारिक नर-नारी बौद्ध-धर्मावलम्बी हैं। उसके पति बुद्धचन्द्र ने उसे धोखा दिया है। "खैर ! जो हुआ-सो-हुआ। लड़की, आप कर्मी होती है, बाप कर्मी नहीं। पिताजी ने तो खूब ही छान-बीन की थी। परन्तु मेरे भाग्य का संयोग भी तो कोई वस्तु थी, और है। फिर भी, मैं अपना धर्म तो कभी छोड़ने की नहीं। क्योंकि, धर्म, कोई ढकोसला तो होता नहीं ! वह कोई खरीद-और बिक्री की वस्तु भी तो नहीं। वह तो अन्तरात्मा की वस्तु है। मेरा धर्म मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारा है। मैं वही करूँगी, जिस में मेरा धर्म बना रहे। ऐसा करने में, फिर चाहे प्राण भी चले जावें, तो भी कोई पर्वाह नहीं।"

अपने इस दृढ़ निश्चय के अनुसार, सुभद्रा, नित्य-प्रति,

पौषधशाला में, व्याख्यान सुनने के लिए जाने आने लगी। मुँह पर मुँह पत्ति बाध कर, सामायिक भी वह नित्य नियम-पूर्वक करने लगी। उस के इन कामों को देख-देख कर उसके सासू ससुर उस पर भल्लाते और अनेकों प्रकार की भला बुरी बातें उसे सुनाते। पर वह उन की उन बातों पर जरा भी कान न देती। वह समय असमय उन्हें कहती, ' धर्म के मामले में, मैं, आप की राई रत्ती-भर भी सुनने वाली नही। हा, आप की व्यावहारिक सभी बातों के, छोटी सी छोटी आज्ञाओं को, मैं अपने सिर-कन्धों मानूंगी। उस मामले में, आप के थूक को लाघना तक, मैं घोर पाप समझूंगी। यह सघर्ष प्रति-दिन बढता ही गया।

सुभद्रा को अपने मन के अनुकूल मार्ग पर लाने के लिए, जब उसके सासू ससुर का एक भी प्रयत्न सफल न हुआ, तब तो उस की सासू ने, उसे दुराचारिणी साबित कर के अपने मन माने निश्चित् मार्ग पर, लाने की मन में ठानी। बुद्धचन्द्र को अनुकूल देख, एक दिन, उसकी माता ने उससे कहा, "बेटा, वधू, दुराचारिणी है। 'हाथ कगन को आरसी क्या ?' कभी समय आया, तो इस बात को प्रत्यक्ष दिखा भी दूगी।" अपनी माता की इस बात पर, उसे तनिक भी विश्वास न हुआ। किन्तु, एक दिन, माता की मन-भावती बात बन पड़ी।

इधर-उधर से विचरते विचरते, एक जिन-कल्पी मुनिराज, बुद्धचन्द्र के घर पर भिक्षा के लिए आ निकले। सुभद्रा ने जब देखा, कि मुनिराज की आखों में फ़ूस के गिर पड़ने से, वे आसू टपटपा रहे हैं, तब तो, उससे न रहा गया। वह उन के सामने चल कर आई। अपनी ज़ुबान से, उसी समय, उन की आखों का फ़ूस बाहर निकाल पटका। उस समय, स्वभावत, दोनों के सिरों के आमने सामने मिल जाने से, सुभद्रा

के भाल पर, जो कुंकुम की बिंदी लगी हुई थी, वह मुनिराज के भाल पर ज्यों-की-त्यों, उतर आई। बुद्धचन्द्र की माता को यह अवसर अनायास ही हाथ लग गया। सुभद्रा को दुराचारिणी साबित करने का, उसने, इस अवसर को सुवर्ण-योग समझा। उसी समय, उसने अपने पुत्र को बुला कर, सुभद्रा और मुनिराज की ओर संकेत करते हुए कहा; "बेटा! अब तो विश्वास हुआ, या नहीं? मैंने जो तुम से कहा था, कि सुभद्रा दुराचारिणी है, कुशीला है, कुलटा है, वह बात आज तुम्हारे सामने आई, या नहीं? अरे! अरे!! यह तो, इतनी अधिक कुल-कलंकिनी है, कि मुनियों तक को इसने न छोड़ा! बताओ, मेरी बात सच निकली, या झूठ? तुमने उस दिन तो मुझे टला दिया था। आज तो तुम स्वयं आंखों से देख रहे हो। आंखों-देखी बात के लिए, किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता भी क्या है! बुद्धचन्द्र, इस दृश्य को देख कर, चौंक पड़ा। उसका सिर नीचा हो गया। पत्नी के प्रति, जितने भी ऊंचे विचार, उसके दिल में, आज तक एकत्रित हो पाये थे, सब-के-सब, पलक मारते, हवा होकर उड़ गये। उसी समय, घर के अन्य सभी लोगों ने भी, सुभद्रा को 'दुराचारिणी' करार दे दिया। सुभद्रा के तन-बदन में, इस बात को सुनते ही, आग-आग लग गई। कंटीली झाड़ियां, बिना बोये ही, अपने आप उग आती हैं। परन्तु आम के पौधे, हर प्रकार की सावधानी लेते रहने पर भी, कठिनाई से पनपते हैं। यही बात सुभद्रा के लिए भी हुई। पलक-मारते-न-मारते, सारी नगरी में, वह बात बिजली के समान फैल गई। सुभद्रा की काफ़ी बदनामी हो गई। किन्तु धूआं, अग्नी को तभी तक ढंके रहता है, जब तक कि वह अपना प्रज्वलित रूप नहीं दिखा पाती। महान् सदाचारिणी, आदर्श सती सुभद्रा, अपने इस मिथ्यापमान को सहन भी कैसे कर सकती थी! उसने अपने

इस काले कलक को दूर करने के लिए, तेले की तपश्चर्या प्रारम्भ करदी। सोने का मैल अग्नि के ताप ही से दूर हो सकता है। सुभद्रा के तप के प्रभाव से, तीसरे ही दिन शील-रक्षक देवों ने, चम्पा नगरी के सभी द्वारों को वज्रमय बना कर, बन्द कर दिया। दर्वाजों के बन्द होते समय, जो एक प्रकार का अचानक और भयकर शब्द हुआ, उससे सारी वस्ती का दिल दहल उठा। नगर के घर घर में यह चर्चा होने लगी, कि यह बला आई तो कैसे? और कहा से? द्वारपाल लोग पुकारू बन कर, राजा के पास दौड़ कर गये, और हाथ जोड़ कर बोले "महाराज! नगरी के सारे दर्वाजे, आज अचानक वज्रमय हो गये, और अपने आप लग गये।"

राजा—बुलाओ, लुहारों और सुतारों को जल्दी से जल्दी, और सम्पूर्ण दर्वाजों को खुलवाने का यत्न करो।

द्वारपालों ने राजाज्ञा का तत्काल पालन किया। शहर के सारे लुहार और सुतार अपनी अपनी शक्ति से जुट पड़े। छैनिया चलीं और टूटीं। घन पड़े। चारों ओर, घन-नाद, वस्ती में व्याप्त हो गया। परन्तु उन लोगों के बल-भर जुट पड़ने पर भी, दर्वाजों का बाल तक बाका न हुआ। किवाड़ टूटते फूटते और खुलते भी कैसे! एक ही शेर की दहाड़ से, सारा वन प्रकम्पित हो उठता है। इस के विपरीत हजारों गीदड़ों से भी, वन-भूमि प्रकम्पित कभी नहीं होती। सती सुभद्रा के कठोर तप-जनित प्रभाव के बल के आगे, एक नगरी की राज शक्ति का बल था ही किस मर्ज की दवा?

द्वारपाल, बेचारे दौड़े हुए, फिर से राजा के निकट आकर रोये चिल्लाये, कि "महाराज! शहर के सारे लोहार और सुतार, अपना अपना बल लगा कर हार गये, परन्तु, किवाड़,

टस-से-मस भी न हुए । अब, बताइये, क्या किया जाय ?" इस पर, "अच्छा, तो हाथियों को छुड़वा कर, किवाड़ों को अभी अभी तुड़वा दिया जाय," राजा ने द्वारपालों से कहा।

तुरन्त, वैसा ही किया गया । परन्तु इस बार भी सारे प्रयत्न बेकार सिद्ध हुए । किवाड़, एक इंच-भर भी खिसक न सके । इतने ही में, नगरी में एक महान् भूकम्प-सा हुआ, और साथ ही एक आकाश-वाणी भी। उस आकाश-वाणी ने बताया, "यदि कोई शीलवती [सदाचारिणी] स्त्री, कच्चे सूत के धागे से चलनी को बांध कर, उसे कूँए में डाले, और उस के द्वारा पानी उस में से निकाल कर, किवाड़ों पर छिड़के, तो किवाड़, उसी समय खुल जावेंगे।" तदनुसार, राजा ने, शहर-भर में, राज-घोषणा करवाई, कि "जो भी कोई सती-साध्वी महिला, अग्रसर हो कर, इस महान् भार को अपने सिर-कन्धों लेते हुए, अपने आदर्श सत्य-शील-व्रत का परिचय देना चाहे, वह, खुशी-खुशी, इस भार को अपने ऊपर ले सकती है। उसके इस परीक्षा में सफल हो जाने पर, उस का, राज्य की ओर से, बड़ा भारी सम्मान किया जायगा।"

इस घोषणा के कुछ ही समय के बाद, निर्धारित किये हुए कूँए के आस-पास, नगर के आबाल-बाल-वृद्ध सभी नर-नारी, आ आ कर जमा होने लगे । वहां, उस समय, एक बड़ा भारी मेला-सा लग गया । सभी लोग टकटकी लगा कर देखने और परस्पर कहने लगे, कि "देखें, कौन ऐसी आदर्श सती-साध्वी महिला है, जो आगे आकर, कच्चे सूत के धागे में चलनी को बांध, कूँए में से पानी को निकालने का साहस करती है; और इन वज्रमय किवाड़ों को खोल कर, अचानक आये हुए संकट के इन बादलों को हटाती है।"

शहर की सभी महिलाएं परस्पर काना फूंसी करने लगीं,

कि यह विघ्न आया तो न मालूम किस के कारण से है, और बुरा परिणाम, इसका, न जाने आकर पड़े किस के सिर पर ! हम तो जायें करने को भला, और बदले में बलाय टूट पड़े हमारे ही सिर पर, तो लेने के देने पड़ जायें। ऊपर से खिल्ली उड़े जगत् में हमारी और 'दुराचारिणी' करार दी जावें, वह अलग ही। इसलिए, 'जान न पहचान, हम तुम्हारे मेहमान' वाली बात हम करें ही क्यों ? यही सोच कर, किसी महिला ने आगे आने का साहस ही न किया तब तो झुझला कर, राजा ने अपने प्रधान मन्त्री से कहा, कि "रानियों में से किसी को आगे आने के लिए कह दिया जाय।" इस पर, उसने, सिर झुकाते हुए केवल मौन साध कर, अपनी असम्मति प्रकट की। इतने ही में, हमारी आदर्श चरित नायिका, सती-शिरोमणि सुभद्रा ने आगे बढ़ कर, अपनी सासू से प्रार्थना की कि 'माताजी, मैं द्वार खोलने को जाती हूं।" यह बात सुन कर, सासू झल्ला उठी और बोली, "अरी कुलटा ! चुप रह ! अब घर के छिपे हुए पाप को चौराहे पर लटका कर, क्यों, अपने साथ में, हम सब का भी काला मुंह तू करवाती है ! घर ही में चुपचाप पड़ी रहे ! हमारे वंश का जितना भी उजाला तूने अभी तक किया, उतना ही बस है ! हाय ! 'ले डूबता है एक पापी, नाव को मझधार में।' क्या, तू, अब, हमारे वंश का समूल ही नाश करना चाहती है ? '

सुभद्रा—नहीं, सासूजी ! कभी नहीं। परन्तु मेरे सिर पर जो कलंक का टीका आपने लगा दिया है, उसे धोहने की चेष्टा, मैं अवश्यमेव करूँगी। मैं, नगर के दर्वाजों को खोलकर, जनता के भ्रम को मिटाऊँगी।"

सासू, लम्बे लम्बे हाथ करती, त्योरी बदलते हुए बोली, "अरी कुल-कलंकिनी ! अब, क्यों अधिक कुल को लजाती

है! मान जा! घर से बाहर न निकल! जो भी कुछ बची-बचाई इज्जत है, सब, धूल में मिल जावेगी! वह जीवन, मरने से भी अधिक बदतर होगा।"

"सासूजी! इस अचानक हाथ लगे, सुवर्ण अवसर से, भला, मैं, क्यों न लाभ उठा लूँ? आपकी इच्छा हो, वैसा मुझे आप कहते रहिये। दर्वाजा खोलने के लिए, मैं तो जाऊँगी, और अवश्य जाऊंगी।"

यूँ कहती-सुनती सुभद्रा तो, घर से बाहर निकल ही पड़ी। और, जहां, कूएँ के निकट, गांव के आबाल-वृद्ध नर-नारी इकट्ठे हो रहे थे, वहां आही पहुंची। लोगों ने जब इसे देखा, तरह-तरह की बातें कीं। काना-फूसा कर-करके वे कहने-सुनने लगे, "अरे, यह तो वही सुभद्रा है जिसकी सारे शहर में काफ़ी बदनामी हो रही है। बड़े-बड़े बहे जायें, और छोटे कहें हमें पार उतारो' वाले न्याय से, जब यहां अच्छे-अच्छों की दाल नहीं गल रही है, तब यह अपना और भी भण्डाफोड़ कराने को, क्यों आगे बढ़ रही है! यूं कह-कह कर, प्रत्येक नर-नारी, जो वहां मौजूद थे, मुंह छिपा-छिपा कर हंसने लगे। परन्तु सुभद्रा ने, अपने बालकपन से, सदाचार और धर्म के पलने में पल कर अपनी ही आंखों से देखना, अपने ही कानों से सुनना और अपनी ही अन्तरात्मा के आदेश के अनुसार चलना सीखा था। लोगों ने, परायों के कानों से सुना था; परायों की आंखों से देखा था; परायों के डाह-पूर्ण दिलों की आवाज़ को अपने ही दिलों की आवाज़ बताया था। तब, सुभद्रा, ऐसे नर-नारियों की बातों को, जो अन्धे हों, बहिरे हों, और परायों के इशारों पर नाचते हों, पर्वाह भी क्यों करने लगती? वह निर्भय और निःशंक हो कर, दृढ़ता-पूर्वक, उस कुएँ पर आई। उसने, सब के देखते-ही देखते, कच्चे सूत के

धागे में चलनी को बाध कर, कुएँ मे डाला। और, पानी से भर कर, उसे बाहर खींचली। लोग, उसके इस अभूत पूर्व कार्य को देख कर दंग हो रहे। सभी उपस्थित लोगों ने मुक्त-कण्ठ से उसके सत्य-शील व्रत की भूरि-भूरि प्रशसा की। अन-सोचे-समझे परायों के कहने-सुनने से, जो-जो कलंक, उन्होंने सुभद्रा के ऊपर लगाये थे, उनके लिए, बार-बार उनका अन्त-रात्मा उन्हें कोसने लगी। सुभद्रा के चेहरे पर सतीत्व का दूना रग चढ गया। चारों ओर से उसके लिए जय-घोष होने लगा, जिससे आकाश गूज उठा।

अब, सुभद्रा, नगरी की बाहर दीवारों के दर्वाजों के पास आई। वहा पहुँचते ही, सब से-पहले, उसने, मन ही मन में, नवकार मन्त्र का पाठ किया। तब दर्वाजों पर उस पानी को छिड़का। पानी के छिड़कते ही दर्वाजे खुल पड़े। जिन दर्वाजा को खोलने, तो क्या, एक इच-भर इधर-से-उधर हटाने तक के लिए, नगरी की सम्पूर्ण शक्ति भी बेकार सिद्ध हो चुकी थी, और सम्पूर्ण हाथी एक ही साथ जुट कर भी, जिन्हें टस-से मस नहीं कर सके थे, सुभद्रा के सतीत्व-बल ने, उन्हें, बात की-बात में खोल फेंका। लोगों ने, आज अपनी आखों से, सतीत्व के बल की महिमा को जाना पहिचाना। उसके सासू-ससुर, तथा नगर के अन्य नर-नारी वहा के राजा के साथ, सुभद्रा के शुद्ध सदाचार परमोज्ज्वल शील, और जैन-धर्म की बारम्बार प्रशसा करने लगे। सभी ने मिलकर, सुभद्रा से, अपने अपने अपराध के लिए, क्षमा प्रार्थना की। केवल एक दर्वाजे को छोड़ कर, एक एक करके, सुभद्रा जब सभी दर्वाजों को खोल चुकी थी, उसी समय, राजा, स्वय उसे अपने साथ लेकर, उसके घर तक पहुँचा आया और, राज्य की ओर से उसका यथेष्ट सम्मान किया। तब तो, वे ही नासु

और ससुर, तथा अन्य पारिवारिक जन, जो सुभद्रा को अब से कुछ घड़ियों के पहले कानी आंख तक से देखना भी पाप समझते थे, सभी ने, एक सिर से, उसी सुभद्रा को अब साक्षात् दुर्गा, शक्ति, सती, और लक्ष्मी के प्रत्यक्ष रूप में देखा; और उसका उचित सम्मान किया। यही नहीं, उसी दिन से, स्वयं बुद्धचन्द्र, उसके पिता और माता, तथा परिवार के अन्य व्यक्ति, सब-के-सब, जैन-धर्म के कट्टर अनुयायी हो गये। यूँ, सुख-शान्ति से कुछ काल बीत गया। परन्तु सुभद्रा को इस संसार की अनित्यता का ज्ञान था। इसलिए संसार से उसका चित्त ऊब गया। तब तो, अपने सम्पूर्ण परिवार की सम्मति लेकर, उसने दीक्षा धारण कर ली। और, अखंड आत्म-चिन्तवन में जुट पड़ी।

माता सुभद्रे! धन्य! शतशः बार धन्य!! तू, नारी के रूप में दुर्गा थी, शक्ति थी, सती थी, और महा लक्ष्मी भी तू ही थी। नारी-जगत् के लिए, तेरा सतीत्व का अमर बल और उच्च आदर्श अनन्त काल के लिए, दिव्य प्रकाश-स्तम्भ का काम करता रहेगा। संसार की भूली-भटकी और अबोध माताएँ, तथा बहिनें, तेरे बताये हुए सुपथ पर चल कर, नारी-जगत् का सिर, संसार में, सदा-सर्वदा ऊँचा बनाये रक्खेंगी। हम, तेरे पावन पदों को, नत मस्तक होकर, सहस्रशः बार नमन करते हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] सुभद्रा को, बालकपन में, जो धार्मिक शिक्षा दी गई थी, उसके भावी जीवन पर, उसकी क्या छाप पड़ी? थोड़े में समझाओ।

[२] बुद्धचन्द्र कौन था? उसने जिनदास, तथा जिनमति को किस प्रकार मोहित किया?

[३] "वुद्धचन्द्र व्यापारी था। यहा भी उसने उसी व्यापारिक नीति से मजबूत बना लेना चाहता था।" इस कथन को सरल भाषा में समझाओ।

[४] जिनदास, बुद्धचन्द्र के गुणों पर लट्टू कैसे हो गया ?

[५] धर्माचरण के सम्बन्ध में, सुभद्रा के जो विचार थे, उन्हें बताओ।

[६] "कटीली झाडिया, बिना बोये ही, अपने आप उग आती हैं, परन्तु आम के पौधे, हर प्रकार की सावधानी करते रहने पर भी, कठिनाई से पनपते हैं।" इस कथन की सचाई को सुभद्रा के चरित्र पर घटा कर दिखाओ।

[७] "सोने का मैल, अग्नि के ताप ही से दूर हो सकता है। सुभद्रा के चरित्र के लिए, यह सिद्धान्त कहा तक लागू होता है ?

[८] कूएँ पर, जो नर नारी इकट्ठे हुए थे, क्या, सचमुच ही वे अन्धे, बहिरे, और परायों के इशारों पर नाचने वाले थे ? यदि हा, तो कैसे ?

[९] सिद्ध करो, कि सुभद्रा नारी के रूप में दुर्गा थी, सती थी, शक्ति थी, और महालक्ष्मी थी।



१३ दमयन्ती



जैन-जगत् की प्रसिद्ध सोलह महा सतियों में से एक का नाम दमयन्ती है। वह कुन्दनपुर के राजा की पुत्री थी। वह अपने समय की एक अद्वितीय रूप-सुंदरी थी। इसके पिता ने, इसको वालकपन ही से पढ़ने-लिखने को बैठा दिया था। कौमार अवस्था को पहुंचते-पहुंचते, यह पढ़-लिख कर, वड़ी ही पंडिता वन गई थी। स्त्रियोपयोगी चौसठ कलाओं में, यह पूर्ण विशारदा थी। तरुणाई की अवस्था के प्रारंभ ही में, इसकी विद्या, कला-कुशलता, रूप, गुण, और सौन्दर्य की, देश की दसों दिशाओं में, काफी धूम फैल चुकी थी। इसे यौवन की अवस्था में प्रवेश करते देख, इसकी शील, प्रकृति, रूप. गुण, आदि के अनुरूप, वर की अनुकूल खोज के लिए, इसके पिता ने एक महान् स्वयंवर-मण्डप की रचना की थी। जिसमें, देश-विदेश के राजा, महाराजा, युवराजों एवं तदनुकूल अन्य प्रतिभाशाली व्यक्तियों को आमन्त्रित किया गया था। निमन्त्रण पाकर, सभी लोग, जो स्वयंवर की सभा में, नियत समय पर, दमयन्ती को पा जाने की अभिलाषा में छटपटाते हुए, अपने रूप-सौन्दर्य को, सब प्रकार से निखार-निखार कर आये थे, उनमें एक, कौशल प्रान्त की अयोध्यापुरी के महाराज, निषधराज के सुपुत्र नल, और दूसरे कुबेर भी थे।

निर्धारित समय पर, दमयन्ती, अपनी सखी-सहेलियों को साथ लेकर, सभा मण्डप में पहुची। वह पुष्पमाला को अपने हाथों में लेकर, मण्डलाकार मण्डप में एक छोर से दूसरे छोर का ओर, आगन्तुक राजा, महाराजा एव युवराजो की वशावली, विद्या, बल, कौशल, आदि का, भाटों के द्वारा पूरा-पूरा परिचय पाती हुई धीरे धीरे बढती चली जा रही थी। साथ की कुछ सखियों के हाथ में एक विशाल दर्पण था, जिस में दमयन्ती आये हुए लोगों के रूप और शारीरिक सम्पत्ति को स्वय देखती जाती थी। चलते-चलते, ज्यों ही वह राजा नल के निकट पहुची, और ज्यों ही दर्पण में उसके प्रतिबिम्ब को उसने टकटकी लगा कर देखा, वह वहीं ठिठक रही। उसी समय दमयन्ती ने नल को अपने अनुकूल वर समझा। और, उसी क्षण, उसके गले में, प्रेम से विहल हो कर, जय-माल उसने डाल दी। चारों ओर से, जय-घोष के साथ, वर और वधू पर, पुष्पों की वर्षा हुई। उसके पिता ने तब बड़े ही उत्साह एव समारोह के साथ, उनका विवाह-सस्कार कर दिया।

माताओं और बहिनों! तब और अब के युग में, आकाश और पाताल का अन्तर हो गया है आज, पहले तो विवाह के समय तक, कन्याए उस अवस्था को पहुच ही नही पातीं जब कि वे स्वय अपने हित और अनहित का पूरा पूरा विचार कर सकें। दूसरे, उनकी अपनी अविद्या, मात। पिताओं के स्वार्थ-साधन, और वर्तमान् युग के रूढिवाद के कई झमेलों के कारण, वे अपने ही द्वारा, अपने भाग्य निर्णय के, अपने नारी-सुलभ जन्म जात अधिकार को भी खो बैठीं। आज, उनके माता-पिता, या पालक लोग, अपने स्वार्थ साधन के हेतु अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल, अन्धे, लगड़े लूले, काने,

खोड़े, गंजे, किसी असाध्य रोग के रोगी, अथवा कब्र में पैर लटकाये हुए बूढ़े, या बालक, किसी को भी, उनका हाथ पकड़ा देते हैं। और, अपने हक़ों को न पहचान सकने के कारण वे भी उन के साथ, उसी भांति खुशी-खुशो चली जाती हैं, जैसे कोई मूक, अबाध और अपने सर्वस्व-नाश की बात को सोलह आने भूली हुई गाय केवल हरे घास के फूले को देखकर, किसी कसाई के साथ, खुशी-खुशो चली जाती है। उन्हें अविद्यान्धकार में गले-तक फसी हुई देख, समाज और जाति के रूढ़िवाद ने भी, उनको इस प्रकार धर दबोचा है, कि वे सब कुछ होते हुए भी, आज, कहीं की भी नहीं रह पाई हैं। उसी रूढ़िवाद के कारण, उनकी जबानों में ताले लगे हुए हैं; वे बोल तक नहीं सकतीं। उनकी आंखों पर पर्दा पड़ा हुआ है; वे देख तक नहीं सकतीं। छेद-छेद कर, उनके कानों को बहरा बना दिया है। यही कारण है, कि आज वे सुन भी नहीं सकतीं। और, हृदय होते हुए भी, वे विचार नहीं सकतीं। इसी रूढ़िवाद के अत्याचारी और आततायी राक्षस ने, जहां, बेचारी कन्याओं के लिए, ऐसे-ऐसे ऑर्डिनेंस (अस्थायी कानून) जारी कर दिये हैं, वहां, दूसरी ओर, इसी निशाचर ने (१) कन्या-विक्रय, (२) वर-विक्रय, (३) अनमेल-विवाह, और (४) वृद्ध-विवाह जैसी, जाति और समाज की कलंक-रूपी प्रथाओं को जन्म देकर, उन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन भी दे दिया है। यही कारण है, कि आज, देश की दसों दिशाओं में, विधवाओं (विशेषतः बाल-विधवाओं) की एक बरसाती बाढ़ सी आ गई है। जिनके करुण क्रन्दन से, पृथ्वी और आकाश, कांप-कांप उठे हैं। और, दिशा-विदिशाओं में, उदासी, मुर्दा-दिली, काहिली, और ज़ाहिली छा गई है। ये ही विधवाएं, अपनी शिक्षा-हीनता के कारण, आये दिनों, मन चले गुंडों के

हाथों में गुम-राह होकर, वेश्यालयो मे पहुँच, वेश्याओं की संख्या को बढा रही है। जहा, एक ओर तो, देश के ईमान, धर्म, धन का दिन दहाडे खून हो रहा है, और दूसरी ओर, विधर्मियों की सख्या अकथक रूप से बढ़ रही है। माताओं और बहिनों! तब तो अब आप ही को स्वय अपने, अपनी जाति के, अपने देश और समाज के, चिरन्तन जीवन, रक्षण, उत्थान और कल्याण के लिए, कमर कस कर उठ खडे होना पड़ेगा। ये सभी पाप पूर्ण बातें, बात-की-बात में, उसी घड़ी भाग सकती है, जब कि आप अपने सामुदायिक बल से, गृह-लक्ष्मिया बनने की अपनी असली शिक्षा के पेचीदा प्रश्न को, सब से पहले सुलझा लें। ज्ञान के दिव्य और प्रखर प्रकाश के फैलते ही, आपके और आपके समाज, देश, तथा जाति के सारे संकट के बादल, बात की-बात में छिन्न भिन्न हो जावेंगे। दमयन्ती का जीवन-चरित्र भी, आपको, यही बात बताना है। और, आपको, अपनी नींद छोड़ देने के लिए पुकार रहा है।

दमयन्ती का विवाह, उसके चुने हुए पति के साथ, बड़ी ही धूम धाम से हो गया। उस जमाने में, कन्याओं के बदले में पैसे लेना, अर्थात् जीवित मास को, अपने मुह-मागे मोल और तोल पर, बेचना, घोरतम पाप का काम समझा जाता था। यही कारण था, कि उन दिनों, वर-पक्ष को, कन्या-दान के रूप में अतुलित सम्पत्ति मिलती थी। प्रचलन तो उस प्रथा का आज भी है, परन्तु केवल नाम-ही नाम को। दमयन्ती को, दहेज में, विपुल वभव मिला। बारात की विदाई हुई।

बारात चलते-चलते एक बीयाबान जगल में पहुची। उस समय, वहा एक बड़ी ही विचित्र घटना घटी। हवा का एक बड़ा ही भयकर तूफान-सा उठ आया। धूल इतनी उड़ी, कि घोर अन्धकार छा गया, जिस में हाथ-को हाथ भी

वासना से, लोग जूआ खेलते हैं। यही बात, सन्तों के निकट और इष्टदेवों के पास पहुँच कर भी लोग करते हैं। ज़रा सा नमन किया, थोड़े-से हाथ जोड़ दिये, एक दो मालाएँ फिरा दीं, और कुछ स्तवन और स्तोत्र-पाठ कर दिया। इन सब के बदले, किसी ने पुत्र मांग लिया, किसी ने नई दुल्हिन, किसी ने धन, और किसी ने राज-सम्मान मांग लिया। और, कोई ऐसे भी मिले, जिन्होंने ये सभी बातें मांग लीं। क्या, सन्त, भगवान्. और शास्त्रों के साथ, यह जूआ नहीं है? इतना सब होने पर भी, जूआरी की तृष्णा तो, कभी शान्त होती ही नहीं। वह प्रति पल आकाश-पाताल के कुलावे एक करता रहता है। हां, वह लाखों को पा भी लेता है; पर उस के पास, सच पूछा जाय, तो कुछ रह नहीं पाता। जुआरियों का धन, क्षण-भर का होता है। अन्त में, जूआरी, जहां का जहां बना रहता है। इसी जूआ के प्रभाव से कई राज्य, आज बिगड़ गये; कई धनी कंगाल बन गये तथा कई नामी वंश नेस्त-नाबूद हो गये, और दाने-दाने को मोहताज होकर, इधर-से उधर, मारे-मारे फिर रहे हैं। आज, सौ-सौ आंसुओं के बदले भी. एक-एक दाना मिलना, उनके लिए कठिन हो रहा है। फिर भी. लोग, जूआ से धनाढ्य बनकर, सुख-भोग करना चाहते हैं। यह तो, उनकी हिमालय-जैसी भयंकर भूल है।

जूआ ने राजा नल को भी अपना शिकार बना लिया। वह अपनी राज्य-श्री और प्राणेश्वरी दोनों को जब हार चुका, तब तो वह नगर को छोड़ कर. अन्यत्र जाने लगा। दमयन्ती भी उस समय, उसके साथ हो ली। तब, कुबेर ने उसका हाथ पकड़ कर, झटक दिया। इस पर, लोगों ने उसको खूब ही खरी-खोटी सुनाई। लोक-निन्दा के भय से, उसने बड़े भाई की औरत को, मां के समान-समझ कर, छोड़ दी। और, आप

स्वय महलों में चला गया। नल और दमयन्ती, तब दोनों, एक सुनसान जगल में पहुँचे। और, थकावट के कारण, दोनो एक झरने की तलहटी मे सो रहे। अभी दमयन्ती की आख, ज़रा लग ही पाई थी, कि इतने ही में, नल ने सोचा, "कि स्त्री का साथ में रहना, पुरुष का पग-बन्धन है।" यू सोच, एक कपड़े पर उसने लिख दिया, कि "तूने मुझे हस समझ कर, पति के रूप में ग्रहण किया था, परन्तु मैं तो एक कौआ निकला। तूने मुझे अमृत जानकर अपनाया था, परन्तु मैं तो हलाहल विष निकला। सचमुच में, मै बड़ाही अभागी हू। राज्य को छोड़ देने पर भी, मुझे किसी भी सकट से समर नहीं करना पड़ा था, परन्तु तुम्हें छोड़ने पर तो, जो मेरे दिल और दिमाग पर बीत रही है, उसे मै ही जानता हू। परन्तु मेरे साथ रहने में, तुम्हें घोर कष्ट होगा। बस, यही सोच-समझकर, मैं अकेला ही, अपने भाग्य का निर्णय करने के लिए, विदा हो रहा हू, और तुम्हें अकेली छोड़े जाता हूं।" यूँ लिख कर, नल, वहा से चल पड़ा।

कुछ ही देर के पश्चात्, रानी जब सजग हुई, पति को पास में न देख कर, धड़ाम से धरती पर गिर पड़ी। फिर, उठ कर पगली की भाति, राजा को इधर-उधर ढूढने लगी। पर जब कोई पता न चला, और अपनी साड़ी के आचल पर लिखा हुआ देखा, तब तो वह फूट फूट कर रोने और कहने लगी, "नाथ! अबला को, इस भयानक वन मे अकेली छोड़ किधर सिधार गये! अब यह दासी, यहा किस के आश्रय में रहेगी?" यू रोते बिसूरते और वन वन की खाक छानते हुए, अनेकों कष्ट वह उठाती रही। परन्तु उन कष्टों से ऊब कर, अपना शील धर्म तो उसने नहीं छोड़ा। इधर-उधर घूमते-फिरते, एक दिन, अचलापुरी में, वह अपने मौसा के

नीर के विना नदी सूनी है, ठीक वैसे ही पुत्र के विना घर सूना है। पुत्र, घर की शोभा है; वह अंधियारे घर का एक-मात्र दीपक और वंश की वेलि का जीवनाधार है।" उसी समय उस का पति वहां आ गया। उसने अपनी प्रेयसी को उदास देखा; और उस की उस असामयिक उदासीनता का कारण पूछा। उत्तर में, सुलसा ने कहा, "कुटुम्ब-जागरण जागते हुए भी, अपने कुटुम्ब में कोई पुत्र-पुत्री नहीं। घर, पुत्र के विना खुला रह भी कैसे सकता है? उस के पति रथिक ने कहा, "प्रिये! किसी भैरव-भवानी की मिन्नत क्यों नहीं ले लेती?"

सुलसा—क्या, उन की मिन्नत, पुत्र-पुत्रियों को देनेवाली होती है? नहीं, कदापि नहीं! एक दम असम्भव! क्या, उन के पास पुत्र-पुत्री पड़े हुए हैं, सो देते हैं? मुझे तो यह कथन, युक्ति-संगत नहीं जँचता।

क्या, हमारी आज की माताएं और वहिनें, महा सती सुलसा के इस कथन से, कोई पाठ सीखने का प्रयत्न करेंगी? धर्म पर, सुलसा की कितनी दृढ़ धारणा थी? एक सधवा सती, यदि अपने पति-देव को छोड़ कर, किसी देव, या भैरव भवानी से पुत्र-प्राप्ति की आशा और प्रार्थना करना अपने पतिदेव की महत्वता और शील-धर्म को खो बैठना है वाचकवृन्द! 'स्याने दीवानों को झुक-झुक के सलाम। पीरों-फकीरों को बरफ़ी बादाम।' इस सिद्धान्त का मार्ग तो, असतियों के लिए होता है। इस के विपरीत, जो सतियां कहलाती हैं, वे तो अपने शील-धर्म की रक्षा के हेतु, अपने सिर तक को हंसती-हंसती दे देती हैं। और, मुंह से कभी उफ़ तक नहीं करतीं। यह सब सोच-समझ कर, न तो, किसी

देव ही से, पुत्र की कोई प्रार्थना उसने कभी की न उसने किसी प्रकार का डोरा-डंडा, तथा गंडा-तावीज ही कोई बाधा, और न उसने किसी भोपे-भवानी, अथवा पीर और फकीर ही के सामने जाकर, पुत्र की माग की। देवी सुलसा ! तुम जैसी नारियां ही तो, सती धर्म के सच्चे मर्म और महत्त्व को जानती हैं।

एक बार, देव ने उसकी परीक्षा लेना चाहा। वह, मुनि का रूप धर, उसके घर पर आया। सुलसा ने, उसको, एक मुनि जान कर, स्वागत किया। उसके आगमन से, वह बड़ी ही प्रसन्न हुई, तथा अपने भाग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा वह करने लगी।

मुनि—बहिन ! सुना है, कि तेरे यहां सहस्रपाक नामक कोई तेल है। सन्तों को, उसकी, कुछ आवश्यकता है।

सुलसा—हां, मुनिराज ! है तो जरूर। और, है भी बड़ा ही महंगा। परन्तु महंगे और सस्ते का प्रश्न, मुनिराजों के लिए नहीं। क्योंकि, आप जैसे सुपात्र और सात्विक याचक को, मैं ढूंढने ही कहां जाऊंगी ? भीतर जाकर लाऊं, उतनी देर के लिए कृपा कीजिए। हजारों रुपयों के खर्च से, जो तेल तैयार किया गया था, उसी को सात्विक भाव से बहराने के लिए, सुलसा भीतर की ओर लेने गई। तेल केवल चार शीशियों में था। उनमें से वह एक शीशी को उठा कर बाहर की ओर चली। देव ने अपनी माया फैलाई। आते-आते मार्ग में उसका पैर फिसल पड़ा। वह भी धड़ाम से गिर पड़ी और शीशी भी टुकड़े-टुकड़े हो गई। सुलसा ने, न तो अपनी चोट ही की कोई परवाह की, और न उस बहुमूल्य तेल ही के लुढ़क जाने की कोई चिन्ता। चिन्ता, उसके चित्त में उस समय, यदि

थी तो केवल मुनिराज के चले जाने की। वह प्रति पल यही सोचती जाती थी, कि कहीं मुनिराज, बिना तेल वहराये ही, उलटे पैरों लौट न पड़े। स्फूर्ति से सुलसा उठ बैठी। और, दूसरी शीशी ले आने को गई। लपक कर वह दूसरी शीशी ले आई। पर देव की माया भी अपना काम कर ही रही थी। आते-आते, वह शीशी भी, दर्वाजे की चौखट से टकरा गई। टकराते ही शीशी चटक गई; और तेल सारा-का-सारा टपक पड़ा। अब तीसरी शीशी लाने की बारी आई। सुलसा शीघ्र ही तीसरी शीशी ले आई परन्तु वह भी, लाते-लाते, किसी अदृश्य कारण से चटक गई; और तेल सारा उसमें से धरती पर जा गिरा। चौथी शीशी को लाने पर, उसकी भी वही दशा हुई। अब तो वह खाली ही हाथों मुनिराज के निकट आई। उस समय, उसके मन में तेल के टपक जाने से, जरा भी उदासी नहीं थी। न तेल बहराने के प्रति कोई घृणा के भाव ही हृदय में जागे थे। उसका इतना नुकसान अवश्य हो गया था; परन्तु उसके कारण, उसके एक रोम में भी, कोई सल और बल न था। यदि उस समय, कोई घृणा के भाव उसके हृदय में जाग रहे थे, तो केवल अपने भाग्य के प्रति, कि वह मुनिराज को तेल बहरा न सकी। चल कर, वह मुनिराज के सम्मुख आ खड़ी हुई, और हाथ जोड़ कर कहने लगी, "महाभागे! चार शीशे तेल के घर में थे; पर लाते-लाते, चारों चटक गये। तेल की एक बूंद भी उन में न रही। कोई एक-आध शीशी भी घर में और होती, तो मैं जरूर ले आती। पर मुझ अभागिनी के भाग्य में, आप-जैसे मुनिराजों को, तेल बहराना तो बदा ही नहीं था। करती भी क्या?" मुनिवेशी देव ने उत्तर में कहा, "बस, बस। सुलसा! तेरी अग्नि-परीक्षा हो चुकी। तू, उस में, सोलह-आना उत्तीर्ण हुई। मैं देव हूं। तू

चाहे, सो माग। तेरी सारी मनोभिलाषाएं पूरी होगी।"

सुलसा—महाराज! मैं, और तो कुछ नहीं चाहती। परन्तु इतना ही मुझे आप अपने ज्ञान-बल के द्वारा बता दीजिए, कि मेरी कोख से कोई सतान होगी, या नही?

देव—तेरे सन्तति होगी। और, अवश्य होगी।

यूं कह कर, देव तो अन्तर्धान हो गया। समय आया। और, सुलसा, सन्तान वाली बनी। अब तो सुलसा की धारणा, धर्म के प्रति और भी सुदृढ़ हो गई। अब अपने जीवन का अधिकाश समय, वह धर्म-ध्यान में रत रह कर बिताने लगी।

एक बार, एक सन्यासी, भगवान् महावीर से मिल कर, राजगृह को आ रहे थे। भगवान् ने उनसे कहा, "देव! राजगृह में सुलसा नाम की एक श्राविका रहती है। वह शीलवती और धर्म से प्रगाढ़ प्रेम रखने वाली है। यदि, आप वहा जावें, तो उससे मिल-भेंट कर, धर्म के सम्बन्ध में, कोइ चर्चा उस से अवश्य करें।" इस पर, "प्रभु की आज्ञा सिर आखो पर है," सन्यासी ने कहा।

सन्यासी को एक प्रकार की लब्धि (सिद्धि) प्राप्त थी। उससे जैसा भी चाहे, वैसा रूप वे बना सकते थे। सन्यासी, चलते-चलते राजगृह में पहुँचे। जाते ही, शहर के एक दर्वाजे पर, ब्रह्मा का रूप धारण करके वे बैठ गये। शहर में ब्रह्मदेव के आने की चहल पहल मच गई। चारों ओर से, लोग भाग-भाग कर, उनके दर्शनों को दौड़ने लगे। परन्तु सुलसा ही एक ऐसी महिला थी, जो वहा न गई। उसने सोचा, यह ब्रह्मा, असली नहीं। फिर, कल तक तो, इनका कहीं कोई नाम भी नहीं था। आज ही-आज, तब, ये आ कहा से गये? जान पड़ता है, किसी ने उनका स्वागमात्र भरा है। दूसरे दिन,

उन्हीं सन्यासी ने विष्णु का, और तीसरे दिन, महेश का रूप भरा। सभी नर-नारी दौड़-दौड़ कर वहां पहुँचे; परन्तु सुलसा ने, ऊपर के विचार द्वारा, उसे धोका ही समझा। चौथे दिन, वे ही सन्यासी, अर्हन्त महावीर बन कर बैठे। परन्तु सुलसा, एक-मात्र वीर प्रभु की उपासिका होकर भी, वहां न पहुँची। हां, दूसरे अविचारी लोगों ने, अवश्य ही उन्हें सर्वज्ञ मान लिया। परन्तु सुलासा के विचारों की मथुरा, गोकुल से न्यारी ही थी। उसने सोचा, "महावीर, यहां से, इतने फांसले पर अभी हैं। कल तक तो वे फलां-फलां स्थान पर थे। एक ही रात में, वे यहां आ कैसे विराजे! जान पड़ता है, इन सारी करतूतों के पीछे, किसी का पेट-मात्र है।" यूँ, सुलसा अपने विचारों पर दृढ़ रही। कितनों ही ने उसे भी वहां जाने को कहा सुना। पर वह टस-से-मस भी न हुई। सन्यासी जी समझ गये, कि इस बस्ती में, एक-मात्र सुलसा ही एक ऐसी आत्मा है, जो अपने धर्म को जैसा भी ठीक-ठीक समझती है, ठीक-ठीक वैसा ही उसको व्यवहार में भी ला रही है। उसी की करणी और कथनी, दोनों एक-साथ चल रही हैं।

क्या, हमारी माताएँ और बहिनें, सुलसा के इस आदर्श पाठ से, वास्तविक धर्म की महिमा को, सोचने-समझने की कभी कोई चेष्टा करेंगी? धर्म के नाम पर, क्या-क्या ढकोसले आज हो रहे हैं, उनसे बचने का कोई साधन वे निकालेंगी? आज, गांवों में कई भोपे और सयाने कहलाने वाले लोग हमारी भोली-भाली भारतीय महिलाओं को, झाड़-फूंक का बड़ा भारी महत्व बताते और समझाते हैं। क्या, यह ढकोसला नहीं है? इन ढकोसलों से बाल-बाल बचते रहने का, इन्हें सदा प्रयत्न करना चाहिए। तभी इनका सम्यक्त्व सोलह-आना निर्दोष रह सकता है। जैसे, अग्नि के पास तपन और

जलाशय के किनारे बैठने से शीत जान पड़ती है, ठीक वैसे ही, इन भोपों और सयानों के साथ से, ईमान और धर्म की दिन-दहाड़े बर्बादी हो जाती है। हम, निर्दोष सम्यकत्व से ही, मोक्ष के राजमार्ग पर लग सकते हैं। तीर्थंकर-पद को प्राप्त करने का एक-मात्र साधन, सम्यक्त्व ही है। इस महासती सुलसा ने सम्यकत्व ही के बल पर, तीर्थंकर के नाम कर्म का उपार्जन किया था। वही, भविष्य की चौबीसी में पन्द्रहवें तीर्थंकर होंगे। यह है, सम्यक्त्व का जीता जागता फल। मा सुलसा! आ, और आज की इन भारतीय महिलाओं को, उसी परम पावन सम्यकत्व का, सुन्दर सन्देश तू दे जा।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] सुलसा के देव, गुरु, और धर्म को बताओ।

[२] सुलसा और उसके पति रथिक के सम्भाषण का वर्णन अपनी भाषा में करो।

[३] किसी देव, या भैरव भवानी, और भोपों तथा सयानों के पास जाकर, पुत्र प्राप्ति के लिए, उनकी तरह तरह की मिन्नतें मानने का वास्तविक अर्थ क्या है?

[४] मुनि के वेश में, देव ने, सुलसा की अग्नि परीक्षा कैसे ली?

[५] ब्रह्मा, विष्णु महेश और अर्हन्त महावीर का स्वांग भरनेवाले सन्यासी के प्रति, सुलसा की कैसी श्रद्धा थी?

[६] सम्यक्त्व से हमारे जीवन में क्या परिवर्तन हो जाता है?

उसका और उस के प्राण प्रिय पति का जीवन है। यही उस का धर्म और यही उसका कर्म है। तभी वह, अपने वंश की मान-मर्यादा को रखती हुई, उसकी संरक्षा और उन्नति कर सकती है।

शिवादेवी में ये सभी गुण, भरपूर रूप से भरे हुए थे। उसके ज़र्रे-ज़र्रे पर, सदाचार की छाप लगी हुई थी। यही कारण था, कि संसार की बड़ी-से-बड़ी शक्ति भी, लाख-लाख सिर पटक-पटक कर मर जाने पर भी, उसके शील धर्म का, एक बाल भी बांका नहीं कर सकती थी। उसे अपना शील-धर्म, अपने प्राणों से भी अधिक महंगा और स्वर्ग से भी अधिक प्यारा था। आज, उसका, हाड़-मांस मय शरीर यहां नहीं है; फिर भी, यह उसका वह शील-धर्म ही है, कि जिस के कारण, शताब्दियों के बीत जाने पर भी, वह यहां आज भी अमर और प्रातः स्मरणीया बनी हुई है।

महाराज चन्द्रप्रद्योतन के महा-मन्त्री का नाम 'भूदेव' था। दोनों का परस्पर इतना अधिक मेल था, कि एक के बिना दूसरे को, घड़ी-भर चैन नहीं पड़ता था। राजा, जहां भी कहीं जाता, मन्त्री भी उसके साथ-ही-साथ रहता था। और-तो-और, राजा अपने साथ, उसे रनिवास तक में, निःशंक होकर ले जाता था। अपने पति-देव की इतनी गहरी कृपा उस पर देख, शिवा-देवी का भी, उससे पर्याप्त परिचय हो गया था। परन्तु मन्द-बुद्धि मन्त्री ने इस प्रेम-पूर्ण परिचय का कुछ और ही अर्थ निकाला। इसे, हमारे पाठक पाठिकाएं, उसकी कुलीनता का दोष कह सकते हैं। मन्त्री, रानी के अनुपम रूप-सौन्दर्य को देख-देख, मन-ही-मन, अधीर हो उठता। वह, किसी भी तरह उसके प्यारों से भी प्यारे, शील-धर्म को खण्डित और दूषित

करना चाहता था।

एक दिन, उसका मन मचल पड़ा, और वह, रानी को हथिया लेने का षड्यन्त्र रचने लगा। अब, वह, राजा को अनेकों प्रकार के ऐसे कामों मे फंसा देने लगा, जिससे वह सप्ताहो तक, रनिवास मे पहुच नहीं पाता। इसी अवधि में, मन्त्री ने शिवादेवी की मुख्य दासियो को फोड कर अपनी ओर मिला लिया। और, धीरे-धीरे, उन्हीं के द्वारा, वह, रानी को अपना प्रेम भाजन बना लेने का, अपने बल-भर प्रयत्न करने-कराने लगा। परन्तु शिवादेवी का शील व्रत कोई ऐसा वैसा तो था नहीं, जो फ़ूक देने से उड जाता वह हिमाचल के समान अचल और सागर के समान गम्भीर था। तब मन्त्री की तर्जन-गर्जन और भाति भाति के भुलावा रूपी फूँक से वह उड़ भी तो कैसे सकता था? मन्त्री के सारे सिर-तोड़ परिश्रम-पूर्वक प्रयत्न, आकाश मे किले बाधने के समान बेकार हो गये।

एक दिन, राजा किसी से मिलने को, अपनी राजधानी को छोड, बाहर गया। मन्त्री ने अपने मनसूबे को फूलने फलने का, इसे बड़ाही सुवर्ण सुयोग समझा। उसे रनिवास मे जाने-आने के लिए, कोई रोक-टोक तो थी ही नहीं। वह निधड़क हो कर वहा चला गया। और, रानी से उस के शील व्रत को दूषित करने की प्रेम-भरी बातें करने लगा। रानी ने पहले तो उसे 'भाई-दादा' कहा। जब उस से काम न चला, तब कुछ डाट डपट उस ने दिखलाई। परन्तु इन बातों का उस के पापो मन पर कोई भी असर न हुआ सच है, 'कामातुर को, न तो किसी का भय ही होता है, और न लाज ही।' तब 'भाई-दादा' और साधारण-सी डांट-डपट का असर, फिर पडता भी तो क्या? रानी उसे हटक कर, ज्यों ही आगे बढी वह भी लपक कर उसके पीछे हो लिया। उस

ने इस बार उसका आंचल पकड़ लिया। रानी ने उसे डांटा-डपटा; और आगे को क़दम रक्खा। फिर भी वह पापी उसी के साथ-साथ हो लिया। इस वार, उसने उस का हाथ पकड़ लिया। रानी ने झटका देकर, अपना हाथ उसी समय छुड़ा लिया। और, उसे सचेत कर के कहने लगी, "पुरुष को चाहिए, कि वह अपने स्वयं के जीवन, स्व-वंश और स्व-धर्म की संरक्षा, जीवन और उन्नति के हित, अपनी पत्नी को छोड़, संसार की सम्पूर्ण पराई नारियों को माता और बहिनों के समान समझे। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो वह देव-दुर्लभ मनुष्यत्व से गिरकर, पशुता की ओर को दौड़ रहा है।" इतने ही में, रानी की दासियां भी वहां आ पहुँची। मन्त्री का सिर ऐसे मन्दा हो गया, मानो उस के सिर पर, दिन-दहाड़े हज़ारों जूते पड़े हों। वह सिट-पिटा कर वहां से चलते ही वना। घर पहुँचते ही, मन्त्री का मन, उसे कोसने और नोचने-खसोटने लगा। उस का खाना, पीना और सोना, वैठना, सब-के-सब हराम हो गये। अव, उसे यदि कोई चिन्ता थी, तो यही, कि राजा के आने पर, रानी के द्वारा, जब उस के पाप का भेडा फूटेगा, उस घड़ी, उस की क्या दुर्दशा होगी! इसी चिन्ता-चिन्ता में, वह वीमार पड़ गया।

राजाने आते ही मन्त्री को बुलावा भेजा पापी का मन, पहले से ही, बालू की दीवाल के समान होता है। उसका मन, अब रह-रह कर उसे खाने लगा। परन्तु पत-झड़ के वाद जैसे वसन्त आता है, ठीक वैसे ही, अन्धकार में भी, आशा की एक झलक दिखाई देही जाती है। इसी नाते, वीमारी के कारण, हलन-चलन की असमर्थता प्रकट करते हुए, राजा के सामने उपस्थित न हो सकने की, अपनी विवशता उस ने दिखाई। पर राजा को उसके विना चैन कहां था? वह स्वयं,

शिवादेवी के साथ, उसके घर पहुंचा। और, बीमारी का हाल पूछने के पश्चात्, वे दोनों-के-दोनों उस की सेवा-शुश्रूषा में लग पड़े। अब तो, उसका पाप उसे और भी खाने लगा। उन दोनों की परिचर्या से उसे यह प्रत्यक्ष हो गया, कि रानी ने राजा के सामने उसके पाप की पोल नहीं खोली है। तथा, उन दोनों का वर्ताव भी उसके साथ, पहले ही जैसा है। तब तो, अपने काले कारनामों पर, वह मन-ही मन पछताने और कहने लगा, "हा हन्त! शिवादेवी जैसी सती-साध्वी के शील को दूषित करने का विचार मेरे मन में प्रवेश करते समय, कोई वज्र-पात मुझ पर क्यों नहीं हो गया! उसकी ओर देखते ही, मेरी आखें क्यों न फूट गई! उसका हाथ पकड़ते समय, मेरे हाथ क्यों न टूट पड़े! यदि, शील रक्षक देव, सर्वत्र हाजिर-नाजिर हैं, तो उस समय मेरी बोटी-बोटी क्यों न निकल गई!" मन्त्री के इन प्रायश्चित्त-पूर्ण विचारों की झाई, उसी समय, उसके चेहरे पर भी पड़ी। उसे देख, रानी के मन में करुणा का एक बड़ा भारी स्रोत उमड़ आया। वह बोली, "भाई! यदि सुबह का भूला-भटका शाम को भी घर आ जावे, तो उसे भूला-भटका नहीं कहते। प्रत्येक पुरुष की पहचान और परम कर्तव्य भी यही है, कि वह पर-नारियों को कभी भूल कर भी न तके, और सदा उन्हें अपनी ही मा बहिनों के समान मानता और गिनता रहे। इसके विपरीत चलने वालों ने खूब ही औंधे मुह की खाई है। उनका धन गया, कुटुम्ब वर्बाद हुआ, और कलंक का टीका सिर पर लगा, वह ऊपर से। तभी तो किसी ने क्या ही सुन्दर कहा है, कि—

'दधि-सुत अबला-अधर पै,' शोभा तें लटकत।
मानो ध्वजा सिकन्दरी, पथी मना करत ॥'

अर्थात् जैसे समुद्रों के ट्रस्ट की ओर से, जहां कहीं भी

समुद्रों में खतरे की जगह होती है, वहां-वहां, कुछ ऊंची-सी झण्डियां लगा दी जाती हैं। जो हिल-डूल कर, आने-जाने वाले जहाज़ों को दूर ही से, उधर आने के लिए रोकती हैं। ठीक वैसे ही, माताओं के नाक का मोती, बाली, बेसर, नथ-के मोती, सदा-सर्वदा, हिल-डूल कर, दूर ही से, उन सभी प्रकार के कामान्ध पुरुषों को, चितौनी देते रहते हैं, कि इस ओर, कुभावना से, कोई भूल कर भी न देखें; और न आवें। नहीं तो, वे इधर क़दम रखते ही, डूब मरेंगे। क्योंकि—

"पर नारी पैनी छुरी; तीन ठौर तें खाय।
धन छीजे, जोवन हरे; मुए नरक ले जाय॥"

रानी के इस कथन का मन्त्री के रोम-रोम ने हृदय से समर्थन किया। उसकी सारी कुभावनाएं, तब तो, उसी क्षण, उस के दिल की दराज़ से नौ-दो हो गईं। अब, शिवादेवी, उसकी आंखों में एक बहिन-मात्र रह गई। फिर, उसके शरीर में कोई रोग रहता ही क्यों? रोग तो सारा, भय ही का था। भय के भागते ही, उसके पैर उछल पड़े। उसी क्षण, वह निरोग हो गया। राजा और रानी, दोनों, राज-महलों को लौट पड़े।

सच है, एक शीलवती माता, क्या नहीं कर सकती। वह चाहे, तो अपने शील के प्रबल बल-विक्रम से, संसार की हस्ती को, बात-की-बात में, मिटा सकती है; समुद्रों को पल-भर में बांध सकती है; और पर्वतों को राई-राई कर सकती है। उसकी आज्ञा, सूरज के सिर और आंखों पर रहती है। देवता लोग, उसके इशारों पर नाचते हैं। शिवा का शील-धर्म इतना प्रबल था, कि किसी मनुष्य को कभी कोई सांप काट खाता, तो शिवा के हाथ-का-स्पर्श-मात्र, उसके लिए गारुड़ी-मन्त्र और स्वयं गरुड़ बन जाता था। वह, धधकती हुई आग के अंगारे को हंसते-हंसते अपने हाथ में उठा लेती;

और वह उसके लिए चन्दन से भी अधिक शीतल बन जाता था। शिवा ! तुम मनुष्य के रूप में साक्षात् देवी थीं। तुम्हें शतश बार सादर वन्दे। तुम अपने पति देव की जीती जागती शान और नारी-जगत् का प्रत्यक्ष अभिमान थीं। तुम्हें धन्यवाद ! तुमने अपने आदर्श चरित्र से, नारी जगत् के लिए स्वर्ग की सुन्दर सड़क तैयार की है। उस प्रशस्त राज मार्ग पर चल कर, नारियां अपने धन और धर्म की रक्षा कर सकेंगी, अपनी गोदी की अमर शोभा को सुधार सकेंगी, अपने जातीय जीवन को पनपाती रहेंगी, राष्ट्र की टूटी हुई कमरों में स्थायी बल का संचार कर सकेंगी, और पापी तथा आततायियों की छातियों को सदा-सर्वदा छलनी बनाती रहेंगी।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] पतिव्रता नारियों का कर्तव्य और धर्म क्या है ?

[२] उनमें कौन कौन से गुण होने चाहिए ?

[३] शिवादेवी, एक आदर्श पतिव्रता नारी थी। कैसे ?

[४] शिवा ने पाप परायण मन्त्री के मन को कैसे बदल दिया ?

[५] बेसर का मोती कामान्ध पुरुषों को क्या सिखाता है ?

[६] एक शीलवती माता, क्या-क्या कर सकती है ?

इच्छानुसार वेश धारण कर के, अपने पति का साथ दिया। थोड़ी-सी शरीर-रक्षक सेना भी उन्हों ने उस समय अपने साथ ले ली। अभी-अभी, पड़ोस के जंगल में वे जा कर के पहुँचे ही थे, कि इतने ही में, हवा बड़े ज़ोरों की चली। उस के कारण, हाथी मचल कर भाग निकला। भागते-भागते, ज्यों ही एक विशाल वट-वृक्ष के नीचे से हो कर, वह गुज़रने वाला था, कि इतने ही में, राजा ने रानी से कहा, कि अपन उस के नीचे पहुँचते ही, उस की शाखाओं से लटक रहेंगे, और हाथी को निकल जाने देंगे। रानी ने राजा के कथन का अनुमोदन किया। परन्तु गर्भवती होने के कारण, वह उस समय अपने शरीर-भार को ठीक-ठीक न संभाल सकी। परिणाम यह हुआ, कि राजा तो शाखाओं से लटक रहा, और रानी, अकेली, हाथी ही के साथ, आगे को चली गई। सच है।

जैसी हो भवितव्यता; तैसी मिले सहाय।
आपु न आवे ताही पे; ताहि तहां ले जाय॥

हाथी, भागते-भागते, एक बड़े ही बीयाबान और सुनसान जंगल में निकल आया। राजा ने रानी का पता लगाने में सिर तोड़ परिश्रम किया; परन्तु वह सब-का-सब, एक सिरे से बेकार रहा। राजा हताश हो गया; और सिर पकड़ कर बैठ रहा। उधर, वह हाथी प्यास के मारे व्याकुल हो कर, पड़ोस के एक सरोवर में पानी पीने के लिए उतरा। भाग्य से, वहां सरोवर का तट और हाथी का हौदा, समतल हो जाने पर, रानी, चट से, उस के तट पर उतर पड़ी। आपदाएँ, कभी अकेली नहीं आया करतीं हैं। एक भय से मुक्त होते ही, दूसरे भय ने उसे आ दबोचा। अब, उस सुनसान वन में वह अकेली थी। वहां, उस का, न कोई साथी था, और न कोई

संगी। एक समय था, जब उसके आगे-पीछे, पचासों दास-दासियां उस के इशारे-मात्र पर नाचते रहते थे। आज वही रानी, दाने-दाने को मुहताज हो कर, बन-बन की धूल छानती फिरती थी वहां, एक ओर, जहां वह भय से छटपटा रही थी, दूसरी ओर, मन ही-मन, अरिहन्त भगवान् का स्मरण करती हुई, उस वन में विचरण कर रही थी। दिन, सभी के पलटते है, और विपत्ति-काल का एक-मात्र अवलम्बन, ईश्वर का चिन्तवन, या भगवान् का नाम स्मरण ही होता है। कहा भी है कि—

सुनेरी मैंने निर्बल के बल राम ॥ ध्रुवपद ॥
अप बल, तप बल, और बाहु बल, चौथो है बल दाम।
'सूर' किशोर-कृपा से सब बल, हारे को हरि-नाम ॥सुनेरी०॥

उस निर्जन वन में, यू अकेली विचरते विचरते, वह एक तापस के आश्रम में जा पहुंची। आश्रमवासियों ने, उसे एक कुलीन महिला जान कर, बड़ी ही सभ्यता पूर्वक उसे आश्रय दिया। ज्यों त्यों करके, चातुर्मास के समय को फल-मूल के आधार पर रह कर, उसने वहां गुजारा। तब वह वहां से चल निकली। और, तापस के द्वारा बताये हुए मार्ग का, वह अनुसरण करने लगी। परन्तु उसके सकट-सम्पन्न समय का, अभी, अन्त निकट नहीं आया था। अत उस मार्ग पर चलते-चलते, वह और भी अधिक बीहड़ वन प्रदेश में पहुंच गई। वहां शेरों की दहाड़ उसे सुनाई देने लगी। कई प्रकार के अन्य वनैले जीव-जन्तु भी, उसे वहां इधर-उधर दिख पड़ने लगे। वहां के उस वातावरण को देख, उसने अपने जीवन को, मौत के बगुल में फँसा हुआ देखा। तब तो, उसने सागारी सन्थारा—समाधि—ले लिया। और, अपने पूर्व-कृत पापों की, वह, नीचे के अनुसार, आलोचना-समालोचना करने लगी।

आ निकला। अभी तक, उस के घर में कोई बालक नहीं था। इसलिए उस बालक को, अकेले में पड़ा जान, उसने उठा लिया। और, घर आकर अपनी स्त्री के हाथों उसे सौंप दिया। रानी जलाशय से लौट कर वापस आई। परन्तु अपने कलेजे की कोर, और बुढ़ापे की वैशाखी, पुत्र-रत्न को, वहां न पाकर, धड़ाम से, धरता पर गिर पड़ी; और धाड़ें मार मार कर, रोने-चिल्लाने लगी। फिर, उठ कर, बालक का पता लगाने का, अपने बल-भर प्रयत्न उसने किया। पर उसका नतीजा 'नहीं' में निकला। अब तो, रानी के मन में और भी निराशा की सघन घटा घिर आई। बालक की याद हो आने पर, बेचारी की आंखें भर आतीं। और, छलछला कर, मोती के दानों को भी मात करते हुए, आंसू टप-टप करते, मेदिनी पर, टपक पड़ते। ऐसे निराधार समय में, दुखियों का एक-मात्र अवलम्बन और जीवन आँसू ही होते हैं। किसी कवि ने भी कहा है—

"रोना, निर्धन का धन है; रोना, निर्बल का बल है।
मज़बूरी की दुनियां में; रोने का राज्य अचल है ॥१॥
असफलता से जीवन में; जब घोर युद्ध छिड़ता है।
तब रोने ही की छाया में; आहत को सुख मिलता है ॥२॥
तूफ़ानों से टकरा कर; तरणी जल-मग्ना होती।
नाविक की कातर आशा; जब सिसक-सिसक कर रोती ॥३॥
तब रोने की लहरों से; प्रभु का हिलता सिंहासन।
आंसू की जंज़ीरों में; बंधे आते कृपा-निकेतन ॥ ४ ॥
दुखिया के जब आंसूँ में; भगवान् स्नान कर लेते।
तब करुण लोचनों से लख; उसका सब दुख हर लेते ॥५॥
नयनों की नव-गंगा में; जब आंसूँ बन कर हरि आते।
दिल के पिघले पानी में; वे अपनी चमक दिखाते ॥६॥

वस, इसी नाते, पद्मावती के जीवन मे, एक अपूर्व चमक आने वाली थी। यही कारण था, कि उस पर, दुख पर-दुख आकर टूटे। रानी उदास हो कर, वहा से चल निकली। चलते चलते, वह साध्वियों के पास आई, और प्रसन्नता पूर्वक दीक्षित हो गई। परन्तु उस वालक की टोह ता, वह सदा करती ही रहा। 'जिन खोजा, तिन पाइया, गहरे पानी पैठ'। इस नाते, अन्त में, उसे पता भी लग गया, कि अमुक मेहतर के यहा वह है।

वालक कुछ ही सयाना अब हो गया था, कि उसी समय से, वह वहा काम करने लगा, जिस काम करने वाली प्रकृति के खून से उस के शरीर की रचना हुई थी। वह, एक राजा की सन्तान था। तब तो, अपनी उम्र के वालकों को इक्ट्ठा करके, एक टोली वनाता उस टोली का वह स्वय तो 'राजा' वन जाता। शेप में से, किसी को वह मन्त्री किसी को सेनापति, एक को कोपाध्यक्ष, दूसरे को मजिस्ट्रेट, और किसी को शहर-कोतवाल के ऊचे-ऊचे पदों के लिए चुनता। शेप वचे हुए वालकों को, वह अपनी प्रजा वनाकर, हर प्रकार से, उन का मन-रजन वह करता। इतना ही नहीं, अपने कल्पित शासन सम्बन्धी कामों की सुव्यवस्था के लिए, कभी-कभी, वह अपने एक-आध ऊचे राज कर्मचारी को, लोक रजन के अभाव में, अत्यन्त कड़ा दड भी देता। और, उस के उस दड-विधान का प्रकार तथा उस की अवधि का निर्णय भी, अपनी प्रजा की सहायता और सलाह ही से करता। जिसे भी वह कुछ दड देता, अक्सर उस से वह अपने वदन को खुजवाता। यही कारण था, कि तब से, उस का नाम 'करकण्डू' पड़ गया था।

एक दिन, उसके पोपक पिताने उस करकण्डू को, मरघट

की निगरानी करने के लिए भेजा। उस दिन, दैवात्, उधर से दो साधु आ निकले। उन में से एक साधु के मुंह से अचानक यह बात निकल पड़ी, "इस पड़ोस की बांस की झाड़ी में, जो फलां-फलां सात गांठ की एक लकड़ी है, यदि कोई उसे वहां से निकाल कर अपने पास में रखले, तो वह अपने इसी जीवन में, राजा हो सकेगा। उस बात को, पड़ोस के एक रास्तागीर ब्राह्मण, तथा करकंडू, दोनों ने एक ही साथ सुनी। तब तो, वे दोनों-के-दोनों, उसे हथिया लेने के लिए, एक ही साथ लपके। यही नहीं, उन दोनों ने, उसे, जा कर छूआ भी एक ही साथ। 'राउ राज सब ही कहं नीका।' इस कथन के नाते राजा बनना, और राज्य पाना, किस को भला नहीं लगता था? इसलिए, उन में से प्रत्येक, उसे हथिया लेने की पूरी पूरी चेष्टा करने लगा। परन्तु उस लकड़ी के पीछे, प्रत्येक का ज़बर्दस्त स्वार्थ था। इसी से, 'ज्यों-ज्यों दवाई की गई, त्यों-त्यों, झगड़ा सुलझने के स्थान पर बढ़ता ही गया। अन्त में यहां तक नौबत आई, कि उन्हें राजा के पास तक जाना पड़ा। न्याय का पलड़ा, करकंडू ही के पक्ष में, भारी रहा। राजा ने यह कह कर, कि "यदि तुम्हें राज्य मिल जावे, तो इस ब्राह्मण को भी, तुमने एक गांव जागीरी में दे देना," वह लकड़ी उस कर कंडू को दिलवादी। लकड़ी को पाकर, करकंडू उछलता-कूदता हुआ, वहां से निकल आया; और कंचनपुर की ओर चला साधुओं के वाक्य कभी असार्थक नहीं होते। करकंडू के भाग्य का भद्दापन अब नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। वह, एक राजा की सन्तान थी इस लिए राजा बन कर राज करना, उस का जन्म-सिद्ध अधिकार था। उसी समय, कंचनपुर के नरेश का देहावसान हो गया था। वे निःसन्तान थे। गादी का उत्तराधिकारी नियत करने के लिए प्रजा तथा

मन्त्रि मण्डल के बीच, पर्याप्त बहस हुई। अन्त में, सर्वानुमति से निश्चित हुआ, कि "अपने राज्य की अमुक हथिनी को, उस की सूड में, एक हार डाल कर, छोड़ दिया जाय। जिसके भी गले में, वह हथिनी उस हार को पहना दे बस, उसी को, यहा का उत्तराधिकारी चुन लिया जाय।' उस हथिनी ने, उसी करकडू के गले में हार को डाल दिया। तब तो, पूर्व निश्चय के अनुसार, कचनपुर के सभी लोगों ने करकडू को अपना राजा मान लिया।

राज्याधिकार पाकर, करकडू ने उस ब्राह्मण से पूछा, "तुम किस राज्य में रहते हो?" उत्तर में, उसने अपने को महाराजा दधिवाहन की प्रजा बतलाया। उसी समय, करकडू ने दधिवाहन को लिखा, कि वे उस ब्राह्मण को एक गाव जागीरी में दे दें। इस सन्देश को पाते ही, दधिवाहन आपे से बाहर हो गया, और बोला, "एं! राज्य मेरा, अधिकार मेरा, और यह करकडू कौन, जो मेरे अधिकार का एक गाव, इस ब्राह्मण को बतौर जागीरी के दिलवा रहा है?" बेचारा ब्राह्मण उलटे पैरों लौटकर, करकडू के पास आया। उसने अपना अपमान जान कर, चम्पा पर चढ़ाई बोल दी।

साध्वी पद्मावती ने कहीं इस सन्देश को पा लिया। उसी समय, अपनी गुरुआणी की आज्ञा ले वह रणागण में आई। पहले, वह करकडू की छावनी में गई, और उसे समझाने-बुझाने लगी। करकडू ने कहा, "महासतीजी! आपका उपदेश, उपाश्रय ही में शोभ सकता है; यहा नहीं। यह तो युद्ध भूमि है। यहा तो वेही बातें और विचार होने चाहिये, जो यहा के योग्य हों। फिर, मेरा मुकाबिला, यह कर ही क्या सकता है? इसकी पत्नी यहा चली गई, इस बात का तो इसे पता भी नहीं! फिर यह किस नाक से ऊँचा हो हो कर बोलता है?

मैं इसकी सारी रण-कुशलता को, अभी, चौपट्ट किये देता हूं।"

साध्वी—श्रावकजी ! बोलने में इतनी शीघ्रता न करो। हाथ की छूटी हुई वस्तु, कभी-न-कभी फिर भी मिल सकती है; पर वाणी के द्वारा छूटे हुए बोल तो, फिर किसी भी प्रकार आकर नहीं मिलते। जिनके लिए, मनुष्य को प्रायः आजीवन पछताना पड़ता है। उनकी रानी और तुम्हारी माता, वह मैं ही हूं। तुम्हारे गले में, जो मुद्रिका बंधी हुई है, वह मेरी बात की सचाई का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह तुम्हारे पिता, दधिवाहन के नाम की है।" यह बात सुनकर, करकंडू के कान खड़े हो गये।

करकंडू—क्या कहा महासतीजी ? आप मेरी माता हैं ? और, दधिवाहन मेरे पिता ? ओह ! तब पिता-पुत्र के बीच युद्ध कैसा ? अच्छा, तो चलूं और उनके चरण वन्दन करूं।

साध्वी—बेटा ! एक क्षण और ठहरो। पहले, वहां मुझे पहुँच जाने दो, और तब तुम।

पद्मावती, दधिवाहन के पड़ाव में पहुंची। और, उसे समझाने-बुझाने लगी। इस पर वह बोला—"महासती ! इस समय, आप का यहां कोई काम नहीं। जिस करकंडू को अपने मां और बाप तक का तो पता ही नहीं, और वह मुझसे लड़ने को चढ़ दौड़ा है ? यदि मैं, उसे उसकी करनी का मज़ा न चखाऊँ, तो मेरा नाम दधिवाहन नहीं।"

साध्वी—देव ! ज़रा, तौल कर बोल बोलें। वह आप ही का पुत्र और मैं ही आप की संसार की पत्नी पद्मावती हूं। तब तो आदि से अन्त तक, अपना सारा वर्णन उसने कह सुनाया।

इस बात के सुनते ही राजा की छाती भर आई। हथियार उस के हाथ से छूट कर, धरती पर गिर पड़े। क्या, वह मेरा

पुत्र और मै उस का पिता हू ?" यह कहकर, वह हर्षातिरेक से उछल पड़ा। और लपका अपने पुत्र को गले से लगाने। इतने में करकण्डू भी सम्मुख आ पहुचा था। प्रेम के दो पनाले, दो विपरीत दिशाओं से आकर एक हो गये, और उन मे अनथक बाढ आगई। पिता ने सजल नेत्रों से पुत्र को अंक मे भर लिया। राम और भरत का मिलाप हुआ।

उसी समय, साध्वी पद्मावती के सम्मुख होने से, दधिवाहन के मन में भी, ससार के प्रति असारता के भाव जाग पडे। सच है 'सत-सगति महिमा नही होई' उसी समय, उसने अपने सारे राज्य का भार, अपने पुत्र के कन्धो पर रख दिया। और स्वय ने जैन धर्मानुसार, दीक्षा धारण कर के, मुख पर मुखवस्त्रिका बाधली, बगल में रजोहरण को ले लिया, और सफेद चादर की गाती लगा कर, साधुवेश को सदा के लिए अपना लिया। उधर, साध्वी पद्मावती भी, अपनी गुरुआणी के पास जा पहुची। तब से अन्त समय तक, तप और सयम की कड़ी साधना करके, आत्म-कल्याण को प्राप्त किया। देवि! तुम धन्य हो।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] पुण्य शाली आत्मा, जब प्रगट होने वाली होती है, तब गर्भवती माता को कौन स्वप्न आते हैं ?

[२] अधम आत्मा, जब प्रगट होनेवाली होती है, तब गर्भवती माता को जो स्वप्न पड़ते है, उन का वर्णन करो।

[३] स्वप्न तथा दोहलों का सूक्ष्म भेद, विस्तार पूर्वक बताओ।

[४] अपनी इच्छाओं को दबाने मे शरीर पर क्या असर पड़ता है ? पद्मावती के उदाहरण मे अपने कथन की पुष्टि करो।

[५] हाथी की सवारी ने पद्मावती के भाग्य को किस प्रकार पलट दिया ? थोड़े में वर्णन करो।

[६] सागारी सन्थारे का विस्तार-पूर्वक वर्णन करो।

[७] दुखिया का एक-मात्र जीवन आंसू ही होते हैं, कैसे ?

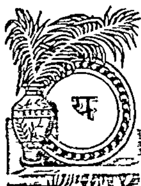
[८] करकंडू ने, एक मेहतर के घर में पल पुष कर भी, बालकपन में, अपने राजपूती अंश को कैसे प्रकट किया ?

[९] करकंडू, राजा कैसे बना ?

[१०] महासती पद्मावती ने युद्ध स्थल को, पावन प्रेम की भूमि में कैसे बदल दिया ?



१७ तारा



ह सती-साध्वी, महाराज हरिश्चन्द्र की धर्म पत्नी थी। वह पति की आज्ञा का पालन करने में, जरा भी हिचाकिचाहट कभी नहीं करती थी। जिस समय, देव ने राजा हरिश्चन्द्र के सत्य की परीक्षा ली, उस समय, उसने कहा, कि इसके पति-देव ने जब सारे राज्य ही को दान में देना का संकल्प कर लिया है तो फिर, आभूषणों को अपने साथ, यह यहां से ले ही कैसे जा सकती है? तारा, अपने समय के एक अति ही बेजोड़ दानी, उदारचित्त, और वीर-वर क्षत्री राजा की पतिव्रता पत्नी थी। वह देव के उपर्युक्त कथन सुनने ही क्यों लगी! उसने उसी क्षण, अपने सारे आभूषणों को, तिनके की भांति तुच्छ समझ कर, उतार फेंके और उसके हाथों सौंप दिया। तारा, आभूषणों को उतार कर, अपने पति के साथ हो गई। पुत्र, रोहिताश्व भी साथ में चला। राजा ने अपने राज्य तक को दान में दे दिया। इसके लिए पत्नी तथा पुत्र के हृदयों में रच मात्र भी क्षोभ न हुआ। उलटे, राजा के कार्यों की, उन्होंने, दिल खोल कर प्रशंसा की। आज की नवीन सभ्यता में पली-पुषी नारियों को, इस उदाहरण से शिक्षा ग्रहण करना चाहिए। सद्-दान में, अपने पति के समान ही उसे भी, अपने दिल को उदार और हाथ को

लम्बे-से-लम्बा बनाने का, सदा-सर्वदा प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि वह अर्द्धांगिनी है। उसी के कारण, घर,, घर होता है। वही, एक-मात्र, घर की स्थिति रक्षा और जीवन का आधार होती है। पुरुष, करोड़पति हो करके भी घर की देख-रेख, वैसी कभी नहीं कर सकता, जैसी कि एक सदाचारिणी और निर्धन नारी। अतः पति दान देना चाहता हो, तो पत्नी कभी रोड़ा बन कर, उसके मार्ग में बाधक तो कभी न बने। एक समय की बात है, जब कि पति कुछ दान दे रहा था। परन्तु उसकी पत्नी ने, बीच ही में 'हूं'' भर कर दिया। बस, उसका यह करना ही था, कि उसके पति के हाथ से, दान का वह पात्र, पृथ्वी पर छिटक पड़ा। अतः वे पति के लिए नहीं, तो न सही; किन्तु अर्द्धांगिनी होने के नाते, अपने कल्याण ही के लिए सही; पति के सद्दान के कार्यों में, बाधा तो कभी न किया करें।

हरिश्चन्द्र ने जब अपना सारा राज्य दान में दे दिया, तब उसने अपनी पत्नी से कहा, "प्रिये! मेरे सिर पांच सौ सोने की मोहरों का कर्ज है। और, उसका चुकाना भी उतना ही आवश्यक है, जितना कि प्राणों को धारण करना।" अपने पति-देव के इन शब्दों पर तारा ने कहा, "नाथ! दासी, प्रभु के सामने खड़ी है। प्रभु, यदि चाहें, तो इसे बेच कर भी, अपने कर्ज की अदाई कर सकते हैं।" और, अन्त में हुआ भी वैसा ही। काशी के बीच बाज़ार में, हरिश्चन्द्र, तारा को बेचने के लिए खड़ा हो गया। पांच सौ मोहरों में, तारा को, एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया गया। पुत्र, रोहिताश्व भी अपनी माता के साथ हो लिया। "व्यर्थ ही में बालक को साथ, मैं लूँ ही क्यों? उसके लालन-पालन के खर्च का भार, मैं सिर-कन्धों क्यों लूँ? कम-से-कम दो आने तो, प्रति दिन, इसके लिए मुझे

लग ही जावेंगे।" खरीददार ने झुझला कर कहा। इस पर, तारा ने बड़ी अनुनय विनय की, "भोजन आदि के बदले, घर का कुछ काम काज कर दिया करेगा।" तारा ने विलाप करते हुए कहा। तारा के कातर कण्ठ और करुणा पूर्ण कथन से, खरीददार के दिल में एक तहलका सा मच गया। उसने कहा, "अच्छा ले चलो।"

तारा और कुमार, राजा से विलग होकर, उसके घर पर आये। कुछ ही दिनों के पश्चात्, उसकी नीयत बदल गई, और वह तारा की ओर बुरी निगाहों से ताकने लगा। इस प्रकार की नीच हरकतों से, तारा के तन बदन में आग आग लग गई। वह झुझला कर बोली "भाई! मैं एक वीर-बाला हूं। घर का छोटे-से-छोटा काम भी, हसते-हसते मैं करती हूं, और आगे भी करती रहूंगी। मैं ने, सत्य की रक्षा के लिए पेट बेचा है, न कि धर्म। परन्तु जिस दिन मेरे धर्म पर तुमने, किसी भी प्रकार का कोई धावा बोला, तो उसी क्षण, हसते-हसते, मैं अपने प्राणों को दे दूंगी, परन्तु अपने धर्म को तो कभी न छोड़ूंगी। तुम जैसे सबलों का, मुझ जैसी अबला पर यह अत्याचार? धिक्कार है तुम्हारे पौरुष को! भाई! जरा, ईश्वर और धर्म को पहचानो, और सचेत हो कर, कोई कार्य करो।" तारा के इन शब्दों ने उसके हीये की आंखे खोल दीं। उसने अपनी करणी पर पश्चात्ताप करते हुए, उससे क्षमा-प्रार्थना की। यही नहीं अनेकों धन्यवाद भी उसने तारा को दिये। परन्तु तारा के भाग्य में आपदाएं अभी और भी बदी थीं।

उधर, हरिश्चन्द्र, उन मोहरों को लेकर, कर्ज चुकाने को जा रहे थे, कि इतने ही में, उसी देव ने लुटेरा बनकर, रास्ते ही में, उन सम्पूर्ण मोहरों को लूट खसोट लिया। हा हन्त! राज्य गया! धर्म पत्नी और पुत्र, दोनों भी खो गये! और,

उन्हें बेच कर, जो धन पाया था, वह भी चला गया ! अब तो, अपने-आप को बेच कर, कर्ज़ चुकाने के सिवा, और कोई चारा नहीं ! यह सोच, अन्त में, उसने अपने-आप को भी, पांच सो मोहरों के बदले, काशी के एक कालू भंगी के हाथ, बेच डाला। उसने, राजा को, मणिकार्णिका घाट के श्मशान पर, आये हुए मुर्दों की कर-वसूली का काम सौंपा। परन्तु अपने सत्य और धर्म की रक्षा के हेतु, राजा, वहां भी, कमर कस कर, अपने काम में. अपने पूरे बल से जुट पड़ा। हरिश्चन्द्र, तुम धन्य हो ! सत्य, तुम-जैसों के बल पर ही, अभी तक संसार में टिक पाया है !

उधर, रोहिताश्व, एक दिन, फूल लेने को, किसी बगीची में गया। वहां, फूल चुनते समय, वही देव सर्प बन, उस सुकोमल बालक को डंस गया। दूसरे बालकों के द्वारा, तारा को इस बात की खबर मिलते ही, रोती-बिसूरती वह उसकी ओर दौड़ पड़ी। इसी बीच, एक घटना और भी घट गई। उसी समय, काशी-नरेश की रानी के गले से बहुमूल्य एक हार को चुरा कर, उसी देव ने, दिनों की मारी, उस तारा के गले में ला पटका, सच है, "दैवोऽपि दुर्बल घातकः।" अर्थात् दैव (भाग्य) भी दुर्बल ही का घातक होता है। उधर, अपने हार को खोया हुआ जान, रानी ने प्रतिज्ञा की, कि "जब तक हार न मिल जावेगा, अन्न-जल को, मैं ग्रहण न करूंगी।" बड़ी ही सर-गर्मी के साथ चारों ओर हार की खोज होने लगी। वही देव, एक भले आदमी का वेश धारण करके, राजा के पास पहुंचा। और बोला, "महाराज ! रानी के हार के समान, एक हार तो अभी-अभी मैंने एक डाकिनी के गले में पड़ा देखा है। एक बच्चे को मार कर, उसका कलेजा खाने के लिए, मणिकार्णिका घाट के श्मशान पर वह बैठी है। विश्वास न हो, तो

महाराज अपने गुप्तचरों को, भेज कर, इस बात का पता लगवा सकते हैं।' राजा ने उसी समय अपने गुप्तचरों को वहा दौड़ाया। वहा जाकर, उन्होंने सब बाते वैसी ही देखी, जैसी कि उन्होंने उस आदमी के द्वारा सुन पाई थीं। तब तो एक-आध गुप्तचर तो वहीं खड़े रहे। शेष, दौड़ कर राजा के सामने आये। और, जैसा उन्होंने देखा था, वर्णन किया। राजा ने यह सोच कर, कि वह डाकिनी, राज्य मे और किसी की प्राण लेऊ न बन बैठे, इसके लिए, उसने उसके सिर को धड़ से तलवार के द्वारा अलग कर देने का हुक्म, दे दिया यह काम, उसी कालू भगी पर आया। उसने हरिश्चन्द्र के हाथ,उस काम को सौंपा।

उधर, बेचारी तारा, अपने बुढापे के एक मात्र अवलंबन, अपने पुत्र के शव को, गोदी में लेकर, रोती-विसूरती, उसी श्मशान में जा बैठी। हा दैव! राज-राजेश्वर का पुत्र, आज, बिना कफन के, श्मशान में पड़ा है! तारा ने दिल को कड़ा कर के, अपने अचल को फाड़, उस मे पुत्र के शव को लपेटा, और उसे जलाने की तैयारी करने लगी। हरिश्चन्द्र ने आकर उसे कहा, "पहले श्मशान-पति का कर चुकाओ, तब दाह-क्रिया करो।" तारा ने अपने पति देव को पहचान लिया। और, बोली, "प्राणनाथ! यह आप ही का पुत्र रोहित।श्व है। बगीचे में फूल चुनने को गया था। वहा साप के डस जाने से इस की यह गति हुई। यह कहते ही कहते, छाती कूट-कूट कर, वह रोने लगी। और, धड़ाम से धरती पर गिर पड़ी। होश आने पर, हरिश्चन्द्र ने उस से कहा, 'देवी! कर्तव्य के आगे, कौन तो किस का पुत्र है और कौन किसका बाप? अत चाहे कोई भी हो। कर तो किसी तरह तुम्हें चुकाना ही होगा। और, तभी तुम दाह-क्रिया भी कर पा-

ओगी।" इतने ही में, उस डोम ने आकर राजाज्ञा को पूरा-पूरा पालन करने की बात, उसे कह-सुनाई उस डोम ने राजाज्ञा के अनुसार, तारा को एक डाकिनी बताया; और उस का सिर चट से अलग कर देने का काम हरिश्चन्द्र को सौंपा। बस फिर क्या था। कर्तव्य-पालन और स्वामी की आज्ञा के सामने, हरिश्चन्द्र सुनता ही कब और किस की था! उसी समय, उसने अपने मियान से तलवार खींच ली; और रानी के सिर को धड़ से अलग कर देने के लिए, हाथ बढ़ाया। पुत्र-शोक में डूबी हुई ताराने, शोक से मुक्त होने का यह शुभ अवसर देख, अपने सिर को और भी नीचा कर लिया। गर्मी की पूरी-पूरी नंगाई और निरंकुशता के बाद ही, संसार में, वर्षा ऋतु की हरियाली और सुन्दरता आया करती है। हरिश्चन्द्र के सत्य और तारा के सदाचरण की अब तक काफी परीक्षा हो चुकी थी। वही देव, मन-ही-मन में, तारा तथा हरिश्चन्द्र की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहने लगा, "इन दोनों के सत्य और धर्म की पर्याप्त परीक्षा हो चुकी। ये उस में सोलह आना सफल हो गये। अब, इन की अधिक परीक्षा लेना, अपने देवत्व को कलंकित करना है।" यह सोच-विचार, उसने, उसी समय, हरिश्चन्द्र का, हाथ जा पकड़ा। और, उसके पैरों पड़, बार-बार क्षमा-याचना करने लगा। वह बोला, "देवी! सती तारा, बाल बाल निर्दोष है। यह सारा काम मेरा था। मैं ने ही डोम बन कर तुम को खरीदा। मैं ने ही सांप बन कर बालक को डसा। मैं ही लुटेरा बना मैं ही साहूकार बन कर, राज-दरबार में पहुँचा। रानी के हार को चुराकर, तारा को पहनाने में भी मेरा ही हाथ था। पुत्र, रोहिताश्व! अब शीघ्र ही उठ बैठे।" रोहिताश्व उसी समय सचेत हो कर उठ बैठा। काशी-नरेश ने जब यह हाल सुना,

तब तो वह भी वहीं आ पहुँचा। उसने और उसके सभी दरबारियों तथा काशी की सारी प्रजा ने, राजा के सत्य, धर्म, और कर्तव्य-पालन की सैकड़ों बार प्रशंसा की। और, अपने अपराध के लिए क्षमा चाही। अन्त में, उस देव ने, नत-मस्तक हो, हरिश्चन्द्र से प्रार्थना की, "राजन्! जाइये, और अपना राज्य, आप पीछा सँभालिये।" दूसरे देवों ने भी, इस बात का समर्थन किया। तब तो तीनों व्यक्ति पीछे अयोध्या को पहुँचे। वहा की जनता ने, अपने भाग्य को सराहते हुए, अपने अन्तःकरण से, उन का आदर सत्कार किया। हरिश्चन्द्र फिर से अयोध्या के राजा बने।

माताओं और बहिनो! तारा, आप ही की एक पूर्वजा थी। हजारों वर्ष बीत गये, तब भी उसका नाम, आज भी वैसा ही प्रातः स्मरणीय बना हुआ है। क्या, नारी जगत् के लिए, यह कुछ कम गौरव की बात है? तारा के सिर, आपदाओं के पहाड़-पर पहाड़ आकर टूटे, परन्तु वह अपने सत्य, और धर्म के बल, टस से-मस भी न हुई। आप भी, इसी प्रकार अपने धर्म और प्रण पर अटल बनी रहें। यदि अपने प्रण और धर्म का पालन करने के मार्ग में, कोई कष्ट भी कभी आप पर आ पड़े तो यही समझ कर, कि "यह लोक तथा परलोक में हमारे यश को चमकानेवाला है," आप धीरज को धारण किये रहें। भगवान्! हमारे देश की माता और बहिनों को, तारा के समान ही हृदय, और अपने धर्म पर डटे रहने की शक्ति दे।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] तारा का पूर्व परिचय, थोड़े दो।
[२] "हरिश्चन्द्र, अपने समय का, एक ही सत्यवादी था।" इस बात को प्रमाणों द्वारा सिद्ध करो।
[३] "अन्त में, जय तो सत्य ही की होती है" कैसे?

१८ अंजना



आज से लगभग ग्यारह लाख वर्ष पहले, हमारे इसी भारत वर्ष में, सिन्धु नदी के किनारे, महेन्द्रपुर नाम का एक नगर था। उन दिनों, महाराज 'महेन्द्र' वहां का राजा था। बहुत सम्भव है, कि 'महेन्द्रपुर की नींव भी उसी राजा के हाथ से पड़ी हो; जिससे उसका नाम 'महेन्द्रपुर' पड़ा। उसकी पटरानी का नाम वेगवती था। उसके सन्तानें तो कई पैदा हुई थीं; परन्तु उनमें पुत्री केवल एक ही थी। उसका नाम था 'अंजना'। उसके लालन, पालन, और शिक्षा का, समुचित रूप से, बड़ा ही उत्तम प्रबन्ध किया गया था। यही कारण था, कि वह थोड़े ही समय में, गणित, इतिहास, भूगोल लेखन, और भाषण, आदि की अनेकों विद्याओं में, तथा कलाओं में, बड़ी ही चतुरा हो चुकी थी। तरुण अवस्था में प्रवेश करते ही, उसके लिए, उस की आयु, शरीर, सौन्दर्य, स्वास्थ्य, विद्या, बल, और विवेक के अनुसार, एक योग्य वर की खोज होने लगी। किसी ने, विद्युत-कुमार को, उस के अनुरूप वर बताया। परन्तु ज्योतिषियों ने, सब प्रकार से सोच-विचार कर के बतलाया, कि वह अल्पायु है। यही नहीं, वह छोटी ही अवस्था में दीक्षित हो कर, आत्म-कल्याण के मार्ग में भी उतर पड़ेगा। इन बातों से, वह मामला, वहीं रूक गया।

फिर, सभी दरबारियों ने, आपस में खूब ही सोच विचार कर के, रत्नपुरी के राजा, प्रह्लाद के पुत्र, पवनजंय का नाम बताया। राजा ने उन की इस सलाह को वाल-वाल मान लिया। और, उसी समय, दूत के साथ, रत्नपुरी को यह सन्देश भेज दिया। राजा प्रह्लाद ने दूत का सब प्रकार से उचित सम्मान किया। और, राजा महेन्द्र की ओर से भेजे हुए प्रस्ताव को, बड़े ही हर्ष के साथ स्वीकार कर लिया। जब कुमार पवनजय ने इस बात को सुना, तब उसने अपने मन्त्री से कहा, कि "चलो, एक बार गुप्त रूप से, अपन लोग भी तो, अजना को देख आवें।" तदनुसार, वायुयान पर चढ कर, दोनों महेन्द्रपुर के बाग में आ उतरे। उसी समय, अजना, अपनी सखी-सहेलियों को साथ लिये, वायु-सेवन के लिए, वहां आई हुई थी। सखियां, परस्पर विनोद कर रही थीं। उन में से एक बोली, "सखी अजना! पहले, तेरी सगाई, विद्युतकुमार के साथ निश्चित हो रही थी, परन्तु ज्योतिषियों के यह बतलाने पर, कि 'वह अल्पायु है, और अल्पायु ही में, दीक्षा धारण कर, आत्म-कल्याण के मार्ग पर वह लग पड़ेगा,' वह सम्बन्ध तय न हो सका। सखियों के इस कथन पर, अजना ने विद्युत-कुमार को, अनेकों धन्यवाद दिये, और उसे नमन भी किया। पवनजय और उस का मंत्री, विराने मनुष्यों के रूप में, इस बात को, अथ से इति तक सुन रहे थे। उस के कुछेक क्षणों के बाद ही, एक सखी ने कहा, "अजना! अब तो पवनजंय के साथ, तुम्हारे जीवन का सम्बन्ध बांधा गया है।" अजना ने इस कथन पर, न तो कोई धन्यवाद ही पवनजंय को दिया, और न नमस्कार का कोई भाव ही उस के प्रति दिखाया। पवनजय को उस का यह व्यवहार बड़ा ही अखरा। और, वह इतना बिगड़ा, कि अपनी कमर में से तल-

वार को उस ने खींच ली। और, लपकने के लिए उतारू हुआ, अंजना के सिर को उस के धड़ से अलग कर देने के लिए। बीच में पड़ कर, मन्त्री ने कुमार का हाथ पकड़ लिया; और बोला, "प्यारे कुमार! रोगी-बन्दी, शरणागत, बालक, और कन्या, ये छहों तो सदा अवध्य हैं। सच्चे राजपूत, इन पर भूल कर भी कभी हाथ नहीं उठाते।" इस पर, कुमार ने कहा, "तो अच्छा! मैं इस के साथ विवाह ही न करूंगा।"

मन्त्री—"कुमार! यह काम भी तुम्हें नहीं शोभता। क्योंकि, राजपूतों की जबान, वज्र की लीक होती है। यही नहीं, तुम्हारे ऐसा करने से, तुम्हारे पिताजी की आज्ञा की अवहेलना भी होगी।"

पवनजय—"तो ठीक! विवाह, मैं कर ज़रूर लूगा। पर फिर भी, बदला तो मैं लूँगा ज़रूर। आजीवन, विरह की ठंढी मौत से, मैं इसे मारता रहूंगा।" यह कह कर, वे दोनों वहां से चल पड़े।

कुछ ही दिन बीते होंगे, कि महाराज प्रह्लाद ने अपने पुत्र, पवनंजय का विवाह, अंजना के साथ, बड़ा ही धूम-धाम से कर दिया। राजा महेन्द्र ने भी दहेज के रूप में अतुल सम्पत्ति देकर, बारात को विदा किया।

कुमार, जब से अंजना को विवाह कर के घर लाये, तभी से, एक अलग महल में, उस का निवास कर दिया। अपने पूर्व निश्चय के अनुसार, कभी भूले-भटके भी, वे उधर से हो कर न निकलते। और, न कभी उसके सुख-दुख ही को वे पूछते। अंजना, अपने पति के इस व्यवहार को, अपने ही पूर्व-कृत-कर्मों का फल जान कर, किसी प्रकार अपने मन को समझा-बुझा लेती; और चुप्पी साध कर बैठ रहती। कभी छठे छैमासे, यदि भूले-भटके कुमार उधर से हो कर निकलते, तो

अजना, अपने महल की खिड़कियों और झरोखों ही के द्वारा, उन के दर्शन कर लेती, और अपने भाग्य को सराहने लगती। आये दिनों, कुमार को, अजना का यह व्यवहार भी खूब ही अखरा। उन्हों ने, तब तो महल की उन सभी खिड़कियों और झरोखों को, बिलकुल ही बन्द करवा दिया। अब तो, बेचारी अजना अपने पति के आकस्मिक दर्शन से भी हाथ धो बैठी, और मुरझाई हुई कली के अनुसार, अपने जीवन की शेष घड़िया काटने लगी।

एक दिन, महाराज प्रह्लाद के पास रावण ने सन्देश भेजा, कि—"वरुण, समय-असमय, राजाज्ञा की अवहेलना करता है। अत जा कर, उस, उचित रूप से ठीक कर दो।" इस पर, प्रह्लाद ने अपने सेनापति को आज्ञा दी। सेना सजाई गई। हथियारों की चमचमाहट, घोड़ों की हिन हिनाहट, गधों की चिंघाड़, योधाओं की ललकार, और उन की बाहुओं की फटकार, तथा रण भेरियों के नाद से गगन-मडल गूज उठा। लोगा के दिल दहल गये, और कपकपी खाकर कहने लगे, "महाराज प्रह्लाद ने आज किस पर कड़ी निगाह की है! उन की क्रोधाग्नि में पड़ कर, आज किस का मन, परलोक को जाने के लिए, मचल पड़ा है।" इस बात का पता कुमार को भी लगा। वे, सीधे, अपने पिता के पास गये, और बोले, "युद्ध में, इस बार, मै जाऊँगा। आप कष्ट न उठावें। मै, ऐसा कुपूत नहीं जो आप के इस बुढापे में, आप को रण में जाने दू और, मै ऐसा कायर भी नहीं, जो आप के नाम को कलंकित कर के, आऊ।" महाराज प्रह्लाद और सम्पूर्ण दरबारियों ने, कुमार के सत्साहस और वीरता की भूरि भूरि प्रशसा की। पिता ने पुत्र की प्रार्थना को स्वीकार किया। कुमार का हृदय हर्ष से उछल पड़ा। उन्होंने युद्ध के लिए

प्रस्थान किया।

सती अंजना को जब यह खबर लगी, पति के चरण-दर्शन और उनके प्रयाण के समय, शुभ शकुन के लिए, दही की एक मटकी अपने सिर पर रख कर, वह उनके सामने, आ खड़ी हुई। ज्योंही; कुमार की निगाह उस पर पड़ी, उसके सौंदर्य को देख, वह चकित हो रहा। उसने अपने मन्त्री से पूछा, "यह कौन? किस महान् प्रवीण चित्रकार की क़लम की करतूत यह है? सचमुच में, यह कोई अप्सरा है, या सुन्दरता ने स्वयं नारी का रूप धारण किया है?" "कुमार! यह वही सती साध्वी, आपकी हृदयेश्वरी, अंजना है।" उत्तर में मन्त्री ने कहा। यह सुन कर, उसकी सारी उत्सुकता क्रोध और घृणा में बदल गई।

कुमार—(क्रोध और घृणा के आवेश में) क्या, यह वही अंजना है? इस शुभ समय में, इस पापिनी की, यह ढाठता? चकनाचूर करवादो, हाथियों के पैरों से खुंदवा, कर इसे! गज-पतियों दौड़ो। और, बात-की-बात में, इस दुष्टा का काम, हाथियों के पैरों से, तमाम कर दो!" तदनुसार, हाथी, इधर-से-उधर दौड़ाये गये। एक हाथी की जोरों से ठेस लगी। उसी से बेचारी अंजना धड़ाम से धरती पर गिर पड़ी। और, बे-सुध हो गई। उसकी दासी, वसन्त-तिलका, उस समय, वहीं खड़ी हुई थी। यह देख, उसने उसे उठा लिया; और हवा आदि उपचारों से, कुछेक मिनटों ही में, उसे सचेत कर दिया। तब दोनों में यूं बात-चीत हुई।—

वसन्त-तिलका—"देखा न! आप के पति कैसे निष्ठुर हैं! उन्हें आप पर, तनिक भी दया नहीं आई! सचमुच में, उनका हृदय, पाषाण का बना हुआ है!"

अजना—(तमक कर) "वस, जवान पकड़ ! विना सोचे समझे, एक शब्द भी, अपने मुँह से, अब, न निकाल ! जिस बात को सिर-पैर मूँड़-गोड़ कोई नहीं जानता, उसके सम्बन्ध में, उसके द्वारा कुछ कहने की बात, निरी मूर्खता नहीं, तो और क्या ? मेरे पति-देव के बारे में, तुझे, एक अक्षर भी बोलने का अधिकार नहीं ! वे भाग्यवान् और बड़े हैं ! इस में भी कोई-न कोई भला हा इरादा उनका होगा ! अत उनका कोई दोष नहीं ! दोष, जितना भी है, सब-का-सब मेरे ही काले कर्मों का !"

यूँ अपनी सखी को डाट-डपट कर, अंजना अपने महल में चली गई, और धर्म-ध्यान में लग पड़ी । उधर, चलते-चलते, जब रात होने आई, कुमार ने मार्ग म डेरा डाला। अभी-अभी, भोजन आदि से निवृत्त हो कर, बिस्तर पर वे लेटे ही थे कि इतने ही में, किसी चकवा-चकवी का विरह-संवाद उन्हें सुन पड़ा। उन्होंने अपने मन्त्री से पूछा, 'मन्त्री ! ये चकोर दम्पति, इस समय, इतने दुखित क्यों हो रहे हैं ?" मन्त्री बोला, "कुमार ! दिन-भर तो, ये दोनों, पति और पत्नी, एक ही साथ रहते हैं, परन्तु रात होते ही इन में जुदाई हो जाती है। वस, केवल उसी दुख से, ये इतने दुखी हो रहे हैं। केवल इतना ही देर की जुदाई भी, उन्हें पहाड़ के समान प्रतीत हो रही है।"

मन्त्री के अन्तिम शब्दों ने, राजकुमार की छाती में छेद कर दिया। वह बोला, "तब, अजना ने पूरे बारह-बारह वर्ष की जुदाई का महान् कड़ा कष्ट, काटा कैसे होगा ? मैं तो परिन्दों से भी गये बीते विचार का व्यक्ति हूँ,जिसने भूले भटके, विवाह के बाद, आज तक भी अजना की, एक बार सुधि न ली ! मन्त्री जी ! मुझे धिक्कार ! सैकड़ों बार धिक्कार !! मेरी

ओर से, इतना निठुर और अमानुषी व्यवहार होते हुए भी, उस का दिल कितना उदार है कि प्रयाण के समय, मेरे दर्शन करने, तथा मेरे लिए शुभ शकुन मनाने को, वह मेरे सामने आई और, उस के इस अगाध प्रेम और पति-भक्ति का बदला, मैं ने उसे हाथियों के पैरों से खुदवा करके, दिया! अब एक क्षण भी, उस की उपेक्षा, मैं कर नहीं सकता। मेरा प्रधान कर्तव्य, अब यही है, कि एक बार जाकर, उसके दिल को दिलासा मैं दूं!" यूं, अपने दिल में निश्चय कर, उसी क्षण, अपने सेनापति को उसने बुलाया: और बोला, "जब तक मैं लौट कर न आ जाऊं, तुम सेना-समेत यहीं ठहरे रहो" इस के पश्चात्, वायुयान पर चढ़, वे बात-की-बात में, रत्न-पुरी के उस महल के निकट आ उतरे जहां पति भक्ता अंजना, पूरे एक युग से, अपने पति-देव के दर्शनों के लिए तड़प रही थी। कुमार ने महल के किवाड़ों को खटखटाया।

दासी—"कौन? रात्रि का समय, और महिलाओं के महल में आ घुसने का, यह साहस? वह कौन लम्पटी और दुराचारी पुरुष है, जो अपने सिर को, असमय में ही, अपने धड़ से अलग करवाना चाहता है! ठहर! प्रातःकाल होने दे! सखी की सासू से कह कर, तेरा खाल खिंचवाली जावेगी!

मन्त्री—'वसन्त-तिलके! ज़रा ज़बान को संभाल कर बोल! तू, अपने कर्तव्य का पालन कर रही है, यह ठीक है! परन्तु एक बार, इधर आ, और, देख, कि स्वयं कुमार ही, तेरे दर्वाज़े पर आकर खड़े हुए हैं! आज, वर्षों की अंजना की साधना सफल हुई! तू, दर्वाजा खोल!"

मन्त्री की बोली पहचान कर वसन्त तिलका ने उसी समय महल का दर्वाजा खोल दिया। और, कुमार को, अपने सामने खड़ा हुआ देखा। उसने, कुमार का समुचित स्वागत

किया। और, बोली, " महाराज ! मेरी स्वामिनी, श्रीमती अजनाजी अभी सामायिक में बैठी हुई हैं। वे अभी अभी उठने ही वाली हैं। आप जरा ही ठहरिये ! और, विराजिये !

सामायिक के पूर्ण होते ही, सखी के सन्देश देने पर, अंजनाजी, पति-दर्शन के लिए, उत्कंठित और प्रेम विभोर हो कर, उठ दौड़ीं, और आकर पवन कुमार के पैरों में गिर पड़ी। कुमार, आखिर कार, एक वीर राज कुमार थे। सती के इस बर्ताव से, उन का कठोर हृदय, उसी समय, पानी-पानी हो गया। वे अब अधिक समय तक अपने आप को न सभाल सके। प्रेम के आसुओं से, उनकी आखें डब-डबा गईं। वीर पत्नियां, अपने पतियों की छाया रूप होती हैं। तब तो अजना का भी वही हाल हुआ। दोनों के, प्रेमातिरेक से, कंठ भर आये। यूं, कुछ देर तक तो, वे परस्पर, बोल तक न सके। अन्त में, कुमार बोले,—

"अजना ! तू नारी नहीं, साक्षात् देवी है। मैंने, अपनी मति के बौरा जाने के कारण, तेरे रोम-रोम को घोर कष्ट दिया, परन्तु तेरा, मेरा साथ वही प्रगाढ प्रेम और सच्ची श्रद्धा रही, जैसी कि एक वीर और सती पत्नी की अपने पति देव के प्रति रहा करती है। तू, एक आदर्श नारी है ! तू धन्य है।"

कुमार, उस महल में, पूरे तीन दिन तक ठहरे रहे। परन्तु अपनी इस बात को, न तो अपने माता पिता ही पर, प्रकट उन्हों ने होने दिया, और न किसी नगर-निवासी ही को, इस बात का, कोई पता कभी चल सका। अन्त में, कुमार, जब वहां से विदा होने लगे, अजना ने हाथ जोड़ कर प्रार्थना की, "प्राणनाथ ! यदि मेरे भाग्योदय से, मेरी इस साध पूरने का

यूं, लाख अनुनय विनय अंजना ने की । खूब रोई ! खूब भींकी ! परन्तु सासू का पाषाण-हृदय टस-से-मस भी न हुआ ! घृणा और क्रोध के वशीभूत हो कर, उस ने तो अपना नादिर शाही हुक्म छोड़ ही दिया ! वह अपने सेवकों से बोली, "है कोई हाजिर ? जाओ ! रथ में बिठा कर, अंजना को, इसी घड़ी, उस के मायके पहुंचा दो ! " वह इतना ही कर के चुप न हो रही । उसने काले वस्त्र भी मंगा कर, अंजना को पहना दिये, जिस से दर्शक लोग, दूर ही से उसे देख कर, यह जान सकें, कि यह अपमानित कर के निकाली गई है। रथवान् ने रथ को ला कर खड़ा कर दिया । इशारा पाते ही, सारथी ने, अंजना और उस की दासी वसन्त तिलका को, रथ पर चढ़ा लिया; और उन्हें महेन्द्रपुर की ओर ले चला । मार्ग में एक बड़ा ही बीहड़ वन पड़ता था । अभी महेन्द्रपुर बहुत दूर था। परन्तु वहीं से उस की दिशा की ओर इशारा करते हुए, सारथी ने उन दोनों को, अपने रथ से नीचे उतार दिया। और, रथ को वापिस, रत्नपुरी की ओर, वह लौटा लाया ।

उस सुनसान और बीयाबान वन में, उन दोनों अबलाओं का, अकेला रह जाना, अंजना को यम-यातना के समान अखरा। उस समय, उसके हृदय में, अनेकों भांति के विचारों के कितने ही भयंकर ज्वार-भाटे उठने लगे। कभी वह सोचती, "हाय ! आज से पहले, जब कभी भी महेन्द्रपुर को मैं गई हूं, सैकड़ों दास-दासी, रथ, घोड़े, और हाथी मेरे साथ होते थे । मेरे लिए तो उत्तमोत्तम सवारियां होती ही थीं; परन्तु मेरे दास-दासियों तक के लिए भी बढ़िया से-बढ़िया सवारियों का आयोजन रहता था ! हा हन्त ! वे बातें मुझ अभागिनी के

लिए, आज केवल स्वप्न सी हो रही है ! इस बीयावान वन में आज इस वसन्त-तिलका के सिवाय, मेरा, और कोई सहायक नहीं है ! वह भी, काली ड्रेस (वेश भूषा) और नगे पैरों, पैदल चलकर ! यूँ , चल कर, अपने पिता माता को, मैं अपना मुँह भी तो कैसे दिखा सकूगी !" जब कुछ देर तक, वह ऐसे भाति-भाति के विचार करती रही, उसकी आखे वह चली, और मूर्छा खाकर, धड़ाम से वह धरती पर गिर पड़ी। कुछ देर में, जब होश आया, वसन्त तिलका को साथ ले, वज्र की छाती बनाकर, पिता के महल की ओर, वह जाने लगी। परन्तु उस समय, उसके पैर मनों और मानियों के हो रहे थे। अतः एक कदम भी चल सकना, उसके लिए, हिमालय पर्वत की चढाई और उतराई हो रहा था। अन्त मे, किसी तरह, रोते-विसूरते, अजना, अपनी दासी के साथ, अपने पिता के महल के निकट, जहा राज-सभा भरती थी, आ पहुंची। द्वारपाल ने भीतर जाकर, अञ्जना के आने की सूचना महाराज महेन्द्र को दी।

महेन्द्र—(सन्देश सुनकर) क्या, बेटी अजना आई है ? अच्छा, तो करो तैयारिया उसे शहर मे लाने की।

द्वारपाल—महाराज ! आज, राजकुमारी के साथ अकेली वसन्ततिलका ही है। वे भी दोनों का दोनों काली ड्रेस मे हैं। और, राज-महल की सिंह पौरि पर, वे दोना आकर खड़ी है।

महेन्द्र—क्या ये बात है ? यदि, तुम्हारा कथन सच है, तो दाल में कुछ न कुछ काला अवश्य होना चाहिए। अतः द्वारपाल ! जाओ और जल्दी-से-जल्दी, उन्हें यहा से उलटे पैरों लौट पड़ने को कह दो। यहा आना तो दूर रहा, मेरे राज्य की सीमा में ठहर कर, वे अब पानी तक नहीं पी सकतीं। यह

बेटी नहीं; अपने पिता और ससुर दोनों के वंशों को दाग़ लगानेवाली है। नारी का रूप धारण न कर, अच्छा होता, यह कोई कीड़ा मकोड़ा ही बन जाती !

राजा महेन्द्र ने भी, सती-साध्वी, किन्तु दुख की मारी अंजना को संसार ही की आंखों से देखा: संसार ही के कानों से सुना: और उसे, सचमुच में, दुराचारिणी जान कर, संसार के ही समान, कठोरतम व्यवहार भी, उस के साथ किया। सच है, आड़े दिनों में, कोई किसी का साथी नहीं होता। अजी, और-तो-और, चौबीसों घन्टे, सदा-सर्वदा साथ में बनी रहने वाली, मनुष्य की छाया तक, रात के घने अन्धकार में, उस के शरीर से, न मालूम, कहां गायब हो जाती है ! अपनी मान-मर्यादा पर, अकस्मात् होने वाले इस कुठाराघात से, महेन्द्र के मन को बड़ी भारी ठेस लगी। अपनी छाती में, उन्होंने, एक मुक्का बड़े ज़ोर से मारा; और दुखित हो कर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। कुछ ही देर के पीछे, जब राजा को होश आया, वह बोला, "दरबान् ! तू, अभी तक यहां खड़ा कैसे है ? क्या, वह अभी तक नहीं गई ? मैं अब उस की एक भी बात, अपने बहरे कानों तक से सुनना नहीं चाहता। जाकर, जल्दी-से-जल्दी, उसे यहां से रवाना कर !

द्वारपाल ने आकर, अंजना से कहा, "देवी ! आप दोनों, यहां से जल्दी-से-जल्दी, चली जाइये। आपके पिताजी, आप को अपनी कानी आंख तक से देखना पाप समझते हैं; और आपकी एक भी बात तक को, सुनने के लिए वे राजी नहीं हैं। अतः व्यर्थ ही में, आप यहां खड़ी रह कर, अपना अपमान क्यों करवाती हैं ?"

दरबान के मुँह से, अपने पिताजी का यह सन्देश सुन

कर, अजना के पैर लड़खड़ा गये। उसकी आंखों के आगे अंधेरा छा गया। उसके पिताजी के वाक्य, उसकी छाती को आर-पार कर गये। उसने उन वाक्यों को, अपनी छाती पर, सौ मन का पत्थर रख कर सुना था। उस समय, उसे, इतना घोरतम कष्ट का अनुभव हुआ कि उसने बीसियों बार मौत को अपने पास बुलाया। परन्तु वह निठुरा, उसके पास, आने भी क्यों लगती? उसने कई बार कातर हो कर देव से, प्रार्थना की, परन्तु भाग्य के बीच-बचाव से, देव ने भी, अभी उसकी एक बात तक न सुनी।

अजना, अपने कलेजे पर पत्थर रख कर, और लोहू का घूट पीकर वहां से लौट पड़ी। और माता के महल की ड्योढी पर आई। उसने, पहले ही के समान ड्योढीवान् के हाथ, सन्देश भेजा। इस बात को सुन कर, पहले तो सारा अन्तःपुर आनन्द में विभोर हो उठा। और, रानी ने, अपने सेवकों को, बड़े ही सत्कार के साथ, बेटी को अन्त पुर मे ले आने की तैयारी करने का हुक्म दे दिया। तदनुसार, वे लोग अपनी-अपनी तैयारी में लगने ही वाले थे, कि इतने ही में ड्योढी-वान् ने कहा, "महारानीजी! वे अजनाजी तो ड्योढी ही पर आकर खड़ी हैं। आपकी आज्ञा-भर ही की देरी है।

महारानी—ड्योढीवान्! क्या कहा? क्या, बेटी अजना के लिए, अन्तःपुर मे आने की आज्ञा?

ड्योढीवान्—महारानीजी! आज वे काली वेशभूषा में हैं। जो भी, केवल एक ही दासी के साथ, और पैदल ही-पैदल चल कर, वे यहां तक आई हैं।

महारानी इस कथन को सुन कर, सहम सी गई, और रंगत जर्द हो गई। उसने, अपने पति के समान ही,

पुत्री का निरादर करते हुए, सैंकड़ों भली-बुरी बातें उसे सुनाई। और, कटार लेकर, आत्म-हत्या करने को उतारू हो गई। सेवकों ने लपक कर, महारानी का हाथ पकड़ लिया। और, आत्म-वध करने से, उसे हटक दिया। तब, महारानी के हुक्म से, अंजना को. सेवकों के द्वारा, धक्के लगवा कर, वहां से, उसी समय निकलवा दिया गया। अब तो. अंजना के धीरज का बांध टूट गया। वह वहां लाख रोई, चिल्लाई: परन्तु उस समय, वहां उस की सुननेवाला था ही कौन ? बेचारी, दुर्दिन की मारी, रोती बिसूरती हुई, अपने भाई भौजाइयों के निकट, शरण पाने के लिए, गई। वहां भी. उस के साथ, वैसा ही कठोर और घृणा का व्यवहार हुआ। भौजाइयों की ताना-कशी ने तो, जले पर और भी नमक छिड़कने का काम कर दिया। हा हन्त ! दैव भी दुर्बल ही का घातक होता है तब तो, चारों ओर से, बीसों विश्वा निराश हो कर. वह, अपनी दासी के साथ,जंगल की ओर निकल पड़ी। और,चली-चली; वह; एक बीयाबान और सुनसान जंगल में निकल आई।

उन दिनों, अंजना के गर्भ के पूरे दिन जा रहे थे। हा दैव ! वह एक वीर-वधू और राज-रानी हो कर, दुर्दिन की मारे यूं, जंगल-जंगल की खाक छान रही थी। उस समय, अनेकों प्रकार के विचार उस के हृदय में उठ रहे थे। वह बार-बार अपने कर्मों को कोसती; और कहती जाती थी, " पूर्व भव में, मैंने भी किसी के सिर ऐसा ही कलंक लगाया होगा ! कदाचित, यही उसी पाप का प्रत्यक्ष परिणाम है ! समय-असमय, बिन-छाना पानी पीया होगा; भर-पेट किसी की निन्दा की होगी; धार्मिक नियमों की अवहेलना की होगी; अपने आश्रित नोकरों एवं कुटुम्बियों को, दुख में ने दिया होगा; तालावों के बांध, मैंने तोड़े होंगे; धर्म के प्रति उपेक्षा, और पापों के प्रति

अपनी रुचि मैं ने दिखाई होगी, रात्रि-भोजन और अभक्ष्या-भक्ष्य पदार्थों का, समय-असमय, खान-पान मैं ने किया होगा, चक्की, चूल्हे परहंडी, तथा ऊखल, आदि के स्थानों में, चंदोवा मैं ने न बाधा होगा, अपने द्वार पर आये हुए अतिथियों को विमुख मैं ने लौटाया होगा, और परस्पर द्वेष तथा फूट फैलाने का प्रयत्न किया होगा ! बस इसी प्रकार के अनेकों, अनहोने और अमानुषी काम मैं ने किये होंगे । उन्हीं का, जीता जागता फल, आज मैं इस रूप में पा रही हूं। परम प्रभु ! क्या, अब भी मेरे कर्मों का कोई फल शेष रहा है ? हाय ! जिस राज-कुमारी का लालन-पालन, मखमली सेज पर हुआ था, वही, आज, इस बीहड़ वन के कंटक-पूर्ण मार्ग में, नंगे पैरों चलती हुई पानी तक के लिए छटपटा रही है ! भव-भय निवारक प्रभु ! अब तो, यह असह्य दुख जरा भी सहा नहीं जाता। गर्भकाल में, भावनाओं की पूर्ति होनी चाहिए, परन्तु आज तो, रुखी सूखी रोटी तक का मिलना दूभर हो रहा है ! आज कितने ही दिन, बिना रोटी खाये बीत गये !" यूं, भांति-भांति के विचार करते हुए, पड़ौस की एक गुफा में उसने प्रवेश किया।

अंजना के उत्कृष्ट सत्य और शील के प्रभाव से, वन रक्षक देव, उस की सहायता तथा रक्षा करने लगा। वहीं, चैत्र कृष्ण अष्टमी, शनिवार के दिन, अंजना ने अपनी गोदी की शोभा, एक पुत्र रत्न को जन्म दिया। पुत्र रत्न को देख, माता का मन, बाग-बाग हो उठा। परन्तु कुछ ही देर में, एक लम्बी उच्छ्वास उसने ली, और मन ही-मन, कहने लगी, "मेरे इस बाल का जन्म, आज, यदि इस के पिता की मौजूदगी में अपने ही राज्य, की सीमा के अन्दर हुआ होता, तो न जाने, खुशी के कितने कितने नक्कारे आज बजे होते ! किस समारोह के

साथ, इसका जन्मोत्सव आज मनाया जाता ! कितनी बधाइयां, आज आई होतीं !

यूं, जिस-तिस तरह से, अपने दिल को दिलासा देते हुए, अपने बालक के अनुपम रूप-सौन्दर्य को देख-देख कर, वन के फूल-फलों, तथा कन्द-मूलों के आधर पर, पूरे बीस दिन, उसने वहीं बिता दिये। अंजना का भाग्य, अब करवट बदल चुका था। बीसवें दिन, अनायास ही, अंजना के मामा, सूरसेनजी, विमान में बैठ कर, उसी मार्ग से कहीं जा रहे थे। ज्यों ही, उन का विमान, अंजना के निवास-स्थान के ठीक ऊपर, अभी पहुँचा ही होगा, कि वह चलते-चलते, एक दम रुक गया। तब तो, सूरसेनजी ने सोचा, कि "या तो, इस सीध में, पहाड़ के अन्दर, लोह-चुम्बक जैसा कोई पदार्थ होना चाहिए, जिस की आकर्षण-शक्ति ने, विमान को आगे बढ़ने से एकदम रोक दिया। अथवा, किसी दुःखित परिवार की करुणापूर्ण आहों से, मेरा विमान यहां रुक गया हो।" यह सोच कर, वे विमान से नीचे उतर पड़े। और, उस रहस्य का पता लगाने के लिए, वहां से गुफा की ओर बढ़े। कुछ ही दूर चलने पर, अंजना उन्हें दिखपड़ी। उस के पास पहुंच कर, उन्हों ने पूछा, "बेटी अंजना ! तू और यहां ? यह क्यों ? और, वह भी केवल वसन्ततिलका ही के साथ में ?"

अंजना (उन के चरणों में नमन करते हुए) मामाजी ! यह सब मेरे कर्मों का फल ! और क्या ?

सूरसेन—चलो, उठो, बैठो विमान में !

तब तो अंजना, नव-जात शिशु, और उसकी दासी, सब-के-सब उस विमान में जा बैठे। विमान अभी कुछ ही दूरी पर पहुंचा होगा, कि एक बड़ी ही विचित्र घटना घटी। नव-

जात बालक आकाश के तारों को देख देख कर उछल रहा था, मानों वह उन्हें तोड़ लेना चाहता हो। एक बार, उसने, इतने ज़ोरों से उड़ान लगाई, कि वह, विमान से नीचे जा गिरा। अंजना यह सोच कर, कि उस का जीवनाधार, तारा भी अब सदा के लिए टूट पड़ा, रोने चिल्लाने लगी। भांति-भांति के विलाप वह करने लगी। सूरसेनजी ने, उसी क्षण, विमान को नीचे उतारा। और वहां जा कर देखा, तो बालक के शरीर की चोट से, जिस शिला पर वह गिरा था, चूर-चूर हो गई है। और, उसी के समीप पड़ा हुआ बालक, आनन्द-पूर्वक, हाथ-पैर हिला-हिला कर, खेल रहा है। सूरसेन ने अपने तथा अंजना के भाग्य को सराहा। उसे उठा कर, अंजना के हाथों सौंप दिया। और, कहने लगे, " बेटी ! जान पड़ता है, यह बालक तो बड़ा ही भाग्यशाली और पराक्रमी, तथा महान् योधा निकलेगा। इसने, अपने बाल-शरीर ही से, शिला तक को चूर चूर कर दिया। फिर गांव का नाम हनुपाटन है। इन दोनों कारणों से, मैं, इस परम सुन्दर और पराक्रमी बालक का नाम भी ' हनुमान ' ही रखता हूं। बेटी ! यह तेरा लाल, युग-युग जीवित रहे, और अपनी माता, तथा पिता दोनों के कुलों का, संसार में सुख उज्ज्वल यश करता रहे। " यूं कह-कर, उन्हों ने विमान को आगे बढ़ाया। थोड़ी ही देर में, विमान, हनुपाटन में पहुंचगया। अब तो, अंजना के दुख के दिन टल गये वह, वहां, अपनी ननिहाल में, सानन्द रहने लगी।

उधर, कुमार पवनजय, शत्रु को पछाड़, और रणांगण से, विजय-लक्ष्मी को साथ लेकर, घर लौटे। अपने पुत्र के विजय होकर लौटने के कारण, उनके माता पिता ने, शहर में बड़ा ही आनन्द मनाया। कुमार भोजन को बैठे, तब उनकी माता

बोली, "बेटा ! अंजना ने तो, तुम्हारे पीछे अपने सती-धर्म को छोड़, अपने कुल को दाग़ लगा दिया। अतः मैंने, उसे, उसके मायके भिजवा दी है।" इस बात से, कुमार का कलेजा कांप उठा। उनके हाथ का कौर हाथ में, और मुँह का कौर मुह ही में रह गया। उसी समय, अपनी माता से वे बोले, "मां ! वह तो सौ टंची सोने के समान एक-दम शुद्ध और निर्दोष थी। तुम्हारे इस व्यवहार से, न जाने, किन-किन घोर कष्टों का सामना, उस अभागिनी को करना पड़ता होगा।" यूं कहते-ही-कहते, भूख पेट ही, वे भोजन से उठ खड़े हुए।

पत्नी, पति की अर्द्धांगिनी कही जाती है। यदि शरीर का आधा भाग कोढ़िया और आधा नीरोग है, तो उस नीरोग भाग को चैन कहां ? पत्नी के वियोग में, वही हाल, कुमार पवनजंय का हुआ। वे अंजना की खोज में, ससुराल को पहुँचे। सैंकड़ों अन्य पुरुषों तथा उनके माता-पिता ने भी उनका पीछा किया। परन्तु अंजना, वहां थी ही कब, जो उन्हें मिल पाती ! लोगों के द्वारा, उन्होंने यह भी सुना, कि उसे राज्य की सीमा में पानी तक न पीने दिया, और देश-निकाला दे दिया गया। तब तो कुमार ने, क्रोध के आवेश में, अपने सासू तथा ससुर को खूब ही आड़े हाथों लिया। वे लोग, बेचारे बग़लें झांकने लगे। और, अपनी अनसोची-समझी करणी पर, मन-ही-मन, बार-बार, पछताने लगे। अब तो अंजना के माता-पिता भी, उसकी खोज में, अन्य पुरुषों के साथ हो लिए। उन लोगों ने अड़ौस-पड़ौस के वन, पर्वत, नदी, नाले और गुफाएँ, एक-एक करके सभी छान डाले। परन्तु अंजना का पता उन्हें अभी तक कहीं भी न लग पाया। तब तो, वे सब-के-सब लोग, अंजना के ननिहाल में पहुँचे। वहां,

अञ्जना को, आँखों से देख भाल कर, उन्हें अपार आनन्द हुआ। घोर परिश्रम और प्रयत्न के पश्चात्, जब मनुष्य सफलता पा जाता है, तब अपनी सारी थकावट को, वह बात की-बात में, भूल जाता है। वही बात, अञ्जना की खोज करने वालों के लिए भी हुई। अञ्जना के मामा, सूरसेन-जी का, सभी ने, बड़ा भारी उपकार माना। और, अनेकों प्रकार से उनकी खूब ही बड़ाई उन्होंने की। अञ्जना के जीवन-नाधार, कुमार पवनञ्जय भी, उससे मिले-भेंटे। रोती बिसूरती अञ्जना भी उनके चरणों पर, आकर गिर पड़ी। कुमार ने उसे उठा कर, सब प्रकार से, पूरी पूरी, सान्त्वना दी। और गद्गद् कंठ में उनसे कहा, "प्रिये! तुम्हारे ऊपर, आने वाली सम्पूर्ण आपदाओं का मूल कारण, मैं ही हूँ। मेरी ही गैर-मौजूदगी के कारण, तुम्हारे ऊपर, अनेकों प्रकार की आपदाओं के पहाड़ आकर टूटते रहे। अञ्जना! तुम साक्षात् देवी हो। इतना होने पर भी, मुझ कृतघ्नी और क्रूर से, अपने अपराधों की क्षमा प्रार्थना तुम कर रही हो। यह तुम्हारी उदारता है देवी! अब मत रोओ। तुम्हें, यूँ, रोते बिसूरते देख, मेरा हिया भी, चीत्कार-चीत्कार कर, रो उठता है।" यूँ, कुमार ने अञ्जना को, सब प्रकार से पूरी पूरी सान्त्वना दी। फिर, कुछ काल तक, वे सब लोग वहाँ पर ही सुख-पूर्वक रहते रहे। अन्त में, अञ्जना और हनुमानजी को साथ में लेकर, पवनञ्जय, अपनी राजधानी को लौट आये। तब से शेष जीवन, उनका, बड़े ही सुख में बीता। पति-सेवा में रत रह कर, देवी अञ्जना ने, अन्त में, दीक्षा लेकर सब प्रकार से, अपना आत्म-कल्याण किया।

समय पाकर, हनुमानजी ने अपने पराक्रम का परिचय संसार को दिया। उनकी अनुपम लोक-सेवा, उनका अपार

चल, उनका आदर्श ब्रह्मचर्य-वृत, उनकी प्रखर प्रतिभा, आदि संसार-प्रसिद्ध हैं। संतान, अपने माता-पिता की छाया होती है। माता-पिता का जैसा शरीर, जैसा मन, जैसा संयम, जैसा शील, आदि होते हैं, उनके ठीक अनुरूप ही, संतान का शरीर, मन, सयम और शील, आदि बन पाते हैं। विवाह के पश्चात्, कितने ही वर्षों तक, पवनजंय ने अंजना के साथ सहवास नहीं किया था। उस अवधि में, वे पूर्ण ब्रह्मचारी बने रहे। उसी ब्रह्मचर्य के प्रबल प्रताप से, अंजना ने हनुमान–जैसे, अपार बलशाली पुत्र को, संसार के हाथों सौंपा। हमारे, हिंदू-कुल सूर्य, महाराणा प्रताप के माता-पिता भी, अपार संयम–शील, और ब्रह्मचारी थे। परन्तु आज हमारी सारी परिपाटियां बदल चुकी हैं। पहले तो, विवाह ही अपरिपक्व आयु में हो जाता है। फिर, विवाह के बाद ही, सहगमन, छाया के समान. साथ लगा रहता है। आज हम ऐसी उलटी-उलटी बातों को, अपना सौभाग्य मान बैठे हैं। इसी में, हम अपनी मान-मर्यादा तथा इज़्ज़त की शान समझते हैं। यह हमारे दिनों का फेर, और दुर्भाग्य का कारण है। ऐसी-ऐसी अनहोनी बातें करके, हम अपनी सन्तानों के प्रति प्रेम का प्रदर्शन समझते हैं। पर सच पूछा जाय, तो ऐसा करके, हम अपनी सन्तानों का सर्वनाश कर रहे हैं! यही नहीं, हम मोह के चक्कर में फँसे हुए नारकीय लोग, अपने राष्ट्र को भी, प्रबल वेग से, पतन की ओर ले जा रहे हैं। हमारी, इस सत्यानाशक बाल-विवाह की कुप्रथा से, राष्ट्र की जवानी का एक-दम लोप-सा हो चुका है! बालक पन के बाद ही बुढ़ापा आ घेरता है। इसी ब्रह्मचर्यधर्म के नाश से, हमारे शरीरों में, भांति-भांति के ज़हरीले रोग-रूप घुन लग गये हैं! हम बारहों महीने और बत्तीसों घड़ी बीमार बने रहते हैं।

सच पूछो, तो आज हमारा जीवन, एक-मात्र औषधियों के आधार ही पर टिका हुआ है ! या, यूं कहो, कि इन औषधियों के सेवन ने, हमारे पहले के सुन्दर और सुदृढ शरीरों को, आज केवल अत्तार की दूकानें मात्र बना रक्खा है ! यही कारण है, कि देश की गली गली में, वैद्य, डॉक्टर, और हकीमों की, आज धूम सी मच गई है। हमारे पाप और अज्ञानता के कारण हमारी गाढ़ी कमाई का अधिकांश भाग, आज उन्हीं की जेबों में जाकर, खन खना रहा है। हमारे शरीरों के साथ-साथ, हमारा मन भी, दुर्बल, द्वेषी, चिड़ चिड़ा, अनाचारी, और अत्याचारी, बनता जा रहा है। तब, देश की दशों दिशाओं में, वकील और बेरिस्टरों की, क्यों न खूब ही बन पड़े ! इन्हीं लोग तो बढ-बढ कर उन के पेशे, और उन की संख्या में, बरसाती नदियों की स्थायी बाढ ला रहे हैं ! अ, जब हमही कब्र में पैरा को लटका कर, मौत को पास बुला रहे हैं, तब मौत बेचारी क्या करे ? हमारे इन सारे पापों का प्रत्यक्ष प्रमाण, हमारी बाल विवाह की कुप्रथा ही है। अत हमारा प्रधान और प्रथम कर्तव्य तथा धर्म है, कि हम इस सत्यानाशक प्रथा को अब बिलकुल ही छिटका दें। अपनी सन्तानों को ब्रह्मचर्य की महिमा का पाठ पढावें। तभी हमारा हमारी जाति का, हमारे राष्ट्र का, और संसार का भावी कल्याण, अब हो सकेगा। अन्यथा, वर्तमान् सभ्यता के प्रवाह में बह चले जाने पर, हमारा नामो निशान ही, एक-न एक दिन, संसार से लोप हो जावेगा। माता अञ्जना ! एक बार, भारत के घर-घर में, तू फिर से आ ! और, अपने देशकी नौनिहाल सन्तानों को वीर हनुमान ही के समान, परम पराक्रमी, साहसी, बली, विद्वान् और, आदर्श सदाचारी, बना जा !

अभ्यास के लिए प्रश्न—

[१] थोड़े में, अंजना के माता-पिता का, परिचय दो।

[२] 'अंजना की छोटी-सी भूल ने, वर्षों के लिए, उसके सोने से जीवन को खाक में मिला दिया।' इस कथन की सच्चाई थोड़े में दिखाओ।

[३] वह कौन सी घटना थी, जिसने पवनजंय के पाषाण हृदय को मोम-जैसा मुलायम बना कर, अंजना की ओर आकर्षित किया ?

[४] सासू के अविचार-पूर्ण कार्यों ने, अंजना को, किन-किन आपदाओं के अन्दर डाला ?

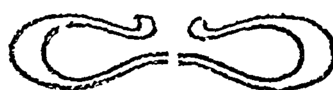
[५] "सच है, आड़े दिनों में, कोई किसी का साथी नहीं होता।" अंजना के चरित्र पर, इस कथन को लगा कर दिखाओ।

[६] अपने ऊपर भांति-भांति की आपदाओं के पहाड़ को टूटा देख, अंजना के मन में, उसके पूर्व-कृत किन-किन कर्मों की याद आई ?

[७] नवजात हनुमान की वीरता का प्रमाण दो।

[८] रणांगण से लौट कर, खोई हुई अंजना को, पवनजंय ने कैसे पाया ? संक्षेप में कहो।

[९] बाल-विवाह की परिपाटी ही सम्पूर्ण बुराइयों की जड़ है। कैसे ?



१६ कलावती



भगवान् महावीर के समय में मगध प्रदेश के अन्तर्गत, शखपुर नाम का एक नगर था। महाराज शख वहा का राजा था। वह अपनी प्रजा का पालन अपने पुत्र के समान, करता था। उस की अर्द्धांगिनी का नाम था 'कलावती।' वह 'देवशाल' नगर के महाराज, 'विजयसेन' की सुपुत्री और जयसेन' की भगिनी थी।

एक बार, जयसेन विदेश यात्रा को निकला। मार्ग ही में बहिन का नगर भी पडता था। उस ने सोचा, "चल लो अपने इधर ही से रहे हैं, 'एक पन्थ, दो काज' के नाते, तब बहिन और बहिनोई से भी तो मिलने चलें।" इसी उद्देश से, ज्योंही वह शखपुर के निकट आया, बहिन के घर की ओर चल पड़ा। घर जा कर, अपनी बहिन से वह मिला। उस समय, बहिनोई कहीं बाहर गये हुए थे। उन के आने में, अभी कुछ देर थी। उधर, जयसेन को भी, विदेश-गमन की जल्दी थी। अत वह अपनी बहिन ही से मिलकर यात्रा को चल पडा। चलते समय, स्वर्ण के कुछ आभूषण, वह अपनी बहिन को देता गया।

नारियों को अपने मायके के प्रति, बडी ही मोह-ममता होती है। उन्हें, अपने पीहर की छोटी-से छोटी वस्तु भी, बड़ी-से-बड़ी बहु-मूल्य, और अत्यन्त प्यारी जान पड़ती है। वे अपने पीहर के किसी भी व्यक्ति की ओर से दी हुई

वस्तु को, स्वर्गीय देन समझती हैं। यही कारण है, कि वे उन्हें बड़े प्रेम और आदर से अपनाती हैं; और ऐसे अवसर पर काम में लाती हैं, जिस समय, पांच आदमी उन्हें देखें; और उन के पीहर की बड़ाई करें। कलावती ने अपने भाई के द्वारा दिये हुए, उन स्वर्ण-निर्मित कंगनों को, अपने हाथों में धारण कर लिया। कुछ ही दिन बीते होंगे, कि राजा शंख भी, अपने काम से निपट कर, अपनी राजधानी को लौट आया। राज-भवन में, ज्योंही वह घुसा, दूर ही से उस की दृष्टि, कलावती के हाथ में पहने हुए उन आभूषणों पर, पड़ी। तब तो उस के क्रोध की सीमा न रही। वह उस के चरित्र के विषय में, भांति-भांति के कुविचार अपने मन में करने लगा। उस ने अनुमान किया, ओह ! जिसे, मैं ने, आज तक, महान् पतिव्रता और सदाचारिणी समझा था, वह तो बड़ी ही कुलटा और दुराचारिणी निकली। जिसे मैं सदा-सर्वदा चाहता हूं, वह और ही को चाहती है। यदि यह बात सच न होती, तो ये अनमोल आभूषण इस के पास आये भी कहां से होते ? इसलिए ऐसी दुराचारिणी स्त्री को, जितना भी जल्दी हो सके, घर से निकाल, अलग कर देना चाहिए। नितिकारों ने जो कहा है, वह सोलह आना सत्य है, कि—"स्त्रियों के चरित्र और पुरुषों के भाग्य का पता मनुष्य तो क्या, देव तक नहीं लगा सकते। वे पुरुष महान् मूर्ख हैं, जो इन नारियों को 'अबलाओं' के नाम से पुकारते हैं। अरे, जो अपने इशारे भर से, इन्द्रादिक देवताओं को भांति-भांति के नाच नचाती रहती हैं, वे अबलाएं कैसी ? वे तो बड़ी-से-बड़ी सबलाएं हैं। कहा भी है:—

"कामिनी को अबला कहत; ते नर मूढ़, अचेत।
इन्द्रादिक जीते दृगन; सो अबला किहि हेत ?"

यूँ, बिना सारासार का निर्णय किये ही, राजा शख, आवेश में आ गया। बिना सिर-पैर की शंका, उसके दिल में, जड़ पकड़ कर बैठ गई। वहम ही तो ठहरा! इसकी औषधी, ही नहीं। फिर, साधारण आदमी की तो चले ही कहां? यह वहम ही है, जिसके हाथों, अनेकों अनर्थ, अकारण ही, इस संसार में समय-असमय हुए, और आज भी होते रहते हैं। सती-शिरोमणि, और निरपराधिनी, जनकनंदिनी, जानकी को, जो महाराज श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा देश-निकाला मिला था, उसमें पूरा-पूरा इसी वहम का हाथ था। अस्तु। राजा शख ने भी, बिना किसी भी प्रकार की तनिक भी छान-बीन किये, अपनी परम सदाचारिणी पत्नी कलावती को, वनवास की, कठोरतम आज्ञा दे ही डाली। इतना ही नहीं, उसने अपने सारथी को यह भी आज्ञा दे दी, कि "सारथी! जाओ, अपने काले रथ में बैठा कर, तुम कलावती को, किसी बीयावान और सुनसान जंगल में छोड़ आओ। और, उसके दोनों हाथ काट कर, मुझे ला दो।" इस कठोरतम आज्ञा के सुनते ही उस सारथी का हृदय चीख पड़ा। पर वह कर ही क्या सकता था! पेट और प्राणों का प्रश्न उसके सामने था। वह हृदय पर पत्थर रख कर, कलावती के निकट गया। और, बोला, "महाभागे! तुम्हें अपने रथ में बैठा कर, जंगल की ओर ले चलने की राजाज्ञा मुझे मिली है।" सारथी के इस कथन को सुन कर, कलावती का हृदय हर्ष से उछल पड़ा। आज, उसके पति-देव, रथ में बिठला कर, उसे जंगल की सैर कराने के लिए, ले जा रहे हैं, यह जान कर तो, उसका हर्ष और दूना हो गया। उन दिनों वह गर्भवती थी। और, उसमें भी, प्रसव-काल अति ही निकट था। प्रसन्न-वदन से वह रथ के समीप आई, और उस पर चढ़ बैठी। रथ चल

पड़ा। और, कुछ ही देर की सरपट दौड़ के बाद, वह एक भयानक और बड़े ही बीहड़ वन में प्रवेश करने लगा। यह देख, कलावती घबरा उठी। उसने, उसी क्षण, सारथी से, इतनी दूर निकल आने, और उस भयानक वन में प्रवेश करने का, कारण पूछा। इसके पश्चात्, कुछेक क्षणों के लिए, वह ठिठक-सी रही। कलावती के इस कथन को सुन कर, सारथी की छाती भर आई। कलावती ने फिर पूछा, "वत्स! प्राणनाथ कहां रह गये?" इतना सुन कर, सारथी की आंखें टपक पड़ीं। वह रोते-विसूरते हुए बोला, "स्वामिनी! आप के लिए, स्वामी की यही आज्ञा है।" "क्या, यही आज्ञा? यह कठोर-तम दण्ड? प्राणनाथ! मुझ निरपराधिनी अबला के साथ, यह विषम व्यापार?" यूं, भांति-भांति के हृदय-विदारक करुण विलाप करते-करते, कुछ ही देर में, कलावती, अचेत हो कर, उस रथ से नीचे गिर पड़ी इतने ही में, एक स्त्री, राजा के द्वारा भेजी हुई, वहां आई। उसने, एक बड़े ही पैने शस्त्र-द्वारा, बात की बात में, कलाई के निकट से, कलावती के दोनों हाथ काट गिराये। और, उन कटे हुए हाथों को लेकर, तत्काल ही वह वहां से उलटे पैरों लौट पड़ी। हाथों को काट लेने पर, रानी की मूर्छा तो टूट गई। परन्तु वह मछली के समान तड़-फड़ाने लगी। और, उसकी विकलता इतनी अधिक बढ़ी, कि गर्भ-पात हो गया। इस अचानक आपत्ति पर आपत्ति को आई देख, रानी एक बार फिर अचेत हो गई। इतने ही में नव-जात बालक रोने लगा। बालक के रूदन को सुन कर, रानी की मूर्छा टूट गई। वह भी उस बालक के साथ रोने लगी। इस आपदा के पहाड़ को देख, किसी कवि का करुण-हृदय भी, शोकाग्रस्त हो, बरस पड़ा। उसके दो-चार आंसू यूं थे—

म्हारो बालक जी यों तड़फे, रुदन मचावे, कुण आकर धीर बँधावे।
शुद्ध मन सती परमेष्टि ध्यान जब ध्यावे, सुर आकर हाथ बनावे॥
ले बालकियो रानी, झट दूध पिलावे, देव, पुष्प-वृष्टि बरसावे।
उस विरियाजी एक तपस्विनी आवे, शिशु रानी को सग ले जावे॥

अर्थात् यह मेरी आंख का तारा, नव जात शिशु, विकल हो कर, रुदन मचा रहा है। हाय! कौन आकर के इसकी आंखों का पानी पोंछेगा! और, कौन इसे दूध पिलावेगा! मेरे तो हाथ कटे हुए हैं। मैं तो इसे उठाने तक में असमर्थ और अपंग हूँ। प्यारे! तुम उठाने को, क्यों मुझ अभागिनी के पेट से उत्पन्न हुआ! शील-रक्षक देव! इस बीहड़ वन में, अब, एक मात्र आप ही का, मुझ अनाथिनी और असहाया को, आश्रय है! सती-शिरोमणि सीता के लिए, धधकती हुई अग्नि को, आप ही ने तो, चन्दन से भी अधिक शीतल बनाया था! माता द्रौपदी की लज्जा को आप ही ने तो रक्खा था! तब क्या, इस संकट के समय, मेरी सहायता और रक्षा, आप न करेंगे? नाथ! इस अबोध और मूक शिशु की ओर भी तो, आप अपनी अकारण कृपा का उदार हाथ बढ़ाइये! प्रभु! पहाड़ को लाँघ कर आते हैं, पत्थर को फोड़ कर, उस में से प्रकट होते हैं, परन्तु अन्त करण से पुकारने वाला तो उन्हें चाहिए। उन्हें सच्चाई प्यारी है। नखरे से तो वे कभी निकट भी नहीं फटक पाते। रानी की करुणा-पूर्ण आहों और प्रार्थना ने, शील-रक्षक देव के सिंहासन को हिला दिया। उन ने उसी क्षण, रानी के अपूर्व सत्य, शील आदि गुणों पर रीझ कर, उस के हाथ, पहले ही के समान, ज्यों के त्यों कर दिए। यह देख रानी का हृदय बाँसों उछल पड़ा। अपने हाथों को पा-कर, सब से पहला पुण्य-कार्य, उसने अपने नव जात शिशु

को दूध पिलाने का किया। इससे माता और पुत्र, दोनों को परम सन्तोष हुआ। उसी समय, उसी वन की रहने वाली एक तपस्विनी वहां आई। और, रानी समेत पुत्र को, अपने आश्रम में ले गई।

उधर, उस दुष्टा स्त्री ने, रानी के दोनों कटे हुए हाथों को, राजा के सामने ला धरा। उन हाथों के साथ, वे स्वर्ण-कंकण भी थे। ज्योंही राजा की निगाह उन पर गिरी, उसने, रानी के सगे भाई, जयसेन का नाम, उन पर लिखा देखा। तब तो वह एकाएक चौंक पड़ा। और, बोला, "हाय! अविचार के कारण मुझ से बड़ा भारी अन्याय और अकाज हो गया! ये आभूषण तो, मेरे साले ही के द्वारा दिये हुए थे। परन्तु आवेश में आकर; न जाने कौन कौन से अन्याय-पूर्ण दोष, रानी के सच्चरित्र पर मैंने लगाये; और ऊपर से, उसके हाथ भी कटवा कर मंगवा लिये! हाय! हाय!! मैं ही इस सारे अन्याय का मूल कारण हूं। यूं, अपनी अविचार-पूर्ण कथनी और करणी पर, बारम्बार पश्चात्ताप प्रकट करते हुए, अपने दीवान को साथ ले, उसी बीहड़ वन की ओर वह चल पड़ा। ढूंढते-ढूंढते किसी प्रकार, वे दोनों, उसी तपस्विनी के आश्रम में, जा पहुँचे, जहां रानी कलावती, अपने पुत्र के साथ सानन्द रहती थी। ज्योंही, रानी के दोनों हाथों को पहले ही के समान स्वस्थ और सुन्दर उसने देखा, उसके विस्मय और हर्ष का ठिकाना न रहा। अपनी करणी पर, मन-ही-मन, उसे बड़ा भारी पश्चात्ताप भी हुआ। रानी के मुँह से उसकी करुण-कथा का सारा वृत्तान्त जब उसने सुना, तब तो वह और भी सिटपिटाया। लज्जा और आत्म-ग्लानि से उसका सिर मन्दा हो गया। अपनी जघन्य करणी के लिए, वह बार-बार, रानी से क्षमा-प्रार्थना करने लगा। वह, बोला, " देवी!

तुम सती शिरोमणि हो। अविचार के आवेश और राज मद के नशे में चूर होकर, जो भी जघन्य व्यवहार मैंने तुम्हारे साथ किया है, उसे तुम क्षमा कर दो, और हृदय से भूल जाओ। यह तुम्हारे अलौकिक और अति ही अद्भुत पातिव्रत धर्म ही का प्रभाव है, कि देवों ने आकर, तुम्हारे कटे हुए हाथों को ज्यों-का-त्यों कर दिया। तुम्हें सैकड़ों बार साधुवाद! तुम्हारा उच्च आदर्श, इस नश्वर संसार में, चिरस्थायी रहेगा। तुम नर-रूप में साक्षात् देवी हो। संसार की नारियां, तुम्हारे आदर्श का अनुसरण कर, अपने जीवन को उन्नत बनाने में समर्थ होंगी।" तब रानी बोली, "प्राणनाथ! इस में विषाद की तो कोई बात नहीं। कोई भी किसी के साथ, बुरा-भला कुछ भी नहीं कर सकता। यह तो मेरे पूर्व जन्म के अशुभ कर्मों ही का फल था। आप का, तथा, किसी दूसरे का इसमें कोई दोष हो ही कैसे सकता है!" यूं, परस्पर क्षमा-याचना करते हुए दोनों राजा और रानी, शंखपुर को लौट आये। और, आनन्द-पूर्वक अपने शेष जीवन को बिताने लगे।

एक बार, चार ज्ञान के धारक 'जयघोष' मुनि का शुभागमन शंखपुर में हुआ। राजा और रानी दोनों उन के दर्शन को गये। रानी ने वन्दना कर के मुनि से पूछा, "प्रभु! मैंने अपने किस भव में, ऐसा कौन सा घोर पाप किया था, जिस के कारण, इस जन्म में, मेरे स्वामी ने, मेरे दोनों हाथ कटवा डालने का कठोरतम दण्ड मुझे दिया?" इस पर, मुनि ने तत्त्वज्ञान के बल से विचार कर कहा, "महाभागे! सुन। अपने पूर्व भव में, तू, 'सुलोचना' नामकी एक कन्या थी। और, आज जो यह तेरा स्वामी है, यह एक तोते के रूप में था। उस का लालन पालन तू बड़े ही दुलार के साथ सदा करती रहती थी। एक दिन, तीर्थंकर वहां पधारे थे। तू उन

तोते को लेकर, वहां पहुंची। दूसरे दिन, तुझे वहां जाने में कुछ देरी देख, पींजरे की कील को अपने पंजे से खोल कर, वह तोता स्वयंही भगवान् की शरण में जा पहुंचा। कुछेक देर के पीछे, जब पींजरे पर तेरी दृष्टि पड़ी, तोते को पींजरे में न देख, तू आग-बबूला हो गई। तूने तोते की खोज में अपने दास-दासियों को इधर-उधर दौड़ाया। इतने ही में तोता भी, अचानक, मार्ग में उन्हें मिल गया। अभी ज़रा ही विश्रान्ति वह कर पाया था, कि रानी के नौकर उसे रानी के पास ले चले। रानी, क्रोधित तो पहले ही से उस पर थी। ज्यों ही, तूने उसे आया हुआ देखा, तू ने उस के दो पंख नोंच फेंके। बस, उसी तोते का जीव, यहां शंख राजा के रूप में, तुझ से अपना पूर्व जन्म का बदला लेने को आया है। तू ने उस के दो पंख नोचे थे। उस ने तेरे दोनों हाथ कटवा गिराये। रानी! यह है कर्मों के लेन-देन का व्यापार।" संसारी जीवों! इसी लिए शास्त्रों तथा मुनिराज का कथन है. कि कर्म तो कभी न बांधो। क्यों कि, उन का भला तथा बुरा फल, एक-न-एक दिन, अवश्य ही जीव को भोगना पड़ता है। जयघोष मुनि की इस मर्म-भरी वाणी के राजा और रानी के कानों में पहुंचते ही, उन्हें जाति-स्मरण-ज्ञान हो आया। उस ज्ञान के बल से, उन के पूर्व जन्म की सम्पूर्ण घटनाएं उन्हे दर्पण के समान दिख पड़ने लगीं। तब तो उन दोनों ने, उसी समय, सम्पूर्ण राजसी वैभव को विष के समान त्याग, दीक्षा धारण कर ली। और, अपने अन्तिम समय में, वे समाधि-पूर्वक देह त्याग-कर, स्वर्ग को सिधारे। वहां से वे महा-विदेह क्षेत्र में जन्म धारण कर के, दीक्षा ग्रहण करेंगे। और, अपने आठों कर्मों का एकान्त अन्त कर, मोक्ष में जावेंगे।

अभ्यास के लिए प्रश्न:—

[१] कलावती कौन थी ?

[२] जयसेन ने विदेश यात्रा को निकलते समय मन में क्या सोचा ?

[३] 'कंचन ही सारी आपदाओं और सम्पूर्ण अनर्थों का मूल है।' इस कथन की सच्चाई को प्रकट करो।

[४] अविचार के आवेश में आकर, मनुष्य क्या-क्या अनर्थ कर बैठता है ? महाराज शख के उदाहरण पर से इस कथन की पुष्टि करो।

[५] सिद्ध करो, कि अबलाएँ, सचमुच में, अबलाएँ नहीं होतीं वे सबलाएँ होती हैं।

[६] "असली आंसुओं में देवताओं के सिंहासन को हिला देने की शक्ति होती है।" कैसे ?

[७] अपने कृत कर्मों का फल, एक न एक दिन प्राणियों को, अवश्यमेव सहना पड़ता है। कैसे ?



२० मेणरया (मदनरेखा)



गवान् महावीर के समय, इसी भारतवर्ष की मालव-भूमि में, सुदर्शन नाम का एक अति ही मनोहर नगर था। मणिरथ वहां का राजा था। उसके एक भाई का नाम युगबाहु कुमार था। इसी भाई की पत्नी का नाम मदनरेखा या मेणरया था। रूप, सौन्दर्य और गुण, उस महिला के अंग-अंग से टपकते थे। एक दिन, मणिरथ की निगाह उस पर पड़ गई। वह उसके रूप-सौन्दर्य और गुणों पर रीझ गया। तभी से, उसे, किसी प्रकार प्राप्त कर लेने की धुन, उसके सिर पर सवार हो गई। पिता के समान बड़े भाई का, पुत्रवत् छोटे भाई की पत्नी के रूप-सौन्दर्य पर, यूँ मचल पड़ना, और मन में, भांति-भांति के कुविचारों का उसके प्रति रखना, मनुष्यता के पद से पतित होना है; और भ्रातृ-भाव के हरे-भरे पौधे को कुल्हाड़ा लेकर काटना है। लछमण भी, एक भाई थे। जिन्होंने अपनी भावज, महासती सीता की ओर, कभी आंख तक उठा कर भी न देखा था। रामायण के पन्ने, इस कथन की गवाही, सोने के अक्षरों में दे रहे हैं। सीता का, रावण के द्वारा हरण हो चुकने पर, जब श्रीराम ने, उनके कुछ आभूषणों को, जंगल में पड़े पाया था, तब अपने भाई, लछमण से उन्होंने पूछा था, कि—

"हे लखन, ज़रा पहचान करो, क्या भूषण जनक-सुता के हैं?
इनसे गन्ध प्रेम की आती, क्या, उस ही विज्जुलता के हैं?

इन को अपने कर में लेकर, हे भाई लखन पहिचानो तो।
कुछ गौर करो इन के ऊपर, सीता के भूषण जानो तो॥"

प्यारे लक्ष्मण! जरा, पहिचान तो करो, कि ये गहने जनक-नंदिनी ही के हैं, या किसी और के? पाठको! इस पर, लक्ष्मणजी ने, जो नम्रता पूर्वक उत्तर दिया, जरा उसे भी सुन लीजिये —

"कर जोड़ लखन श्रीरघुवर से, अति विनय-सहित यों कहन लगे।
जिस भांति शान्ति रस के समुद्र, ले ले तरंग शुभ वहन लगे॥
ये तो भूषण है ग्रीवा के, इन को मैं कैसे बतलाऊँ।
जो चरण-आभरण ये हों तो, पहचान उन्हीं की समझाऊँ॥

मताजी के चरण का, मैं सेवक, रघुनाथ!
सदा चरण मैंने लखे, और न जानूँ बात॥

मैं तो सेवक हूं चरणों का, चरणों की सेवा करता था।
अर्चन-योग्य चरण पावन जो, उनको हिय में धरता था॥
पद-भूषण, नाथ! अगर होते, तो उनको तनिक जानता मैं।
अन्य अंग जब देखे ही नहिं, फिर कैसे उन्हें चीन्हता मैं॥

स्वामिन्! मैं तो, माता सीताजी के चरणों के गहनों को छोड़, और किसी गहने को जानता तक नहीं। क्योंकि, भावज, सीता देवी के चरणों को छोड़, उनके किसी अन्य अंग की ओर, कभी आंख उठा कर मैंने देखा तक नहीं। यह है, आदर्श वीर, लक्ष्मण के भ्रातृ-भाव का जीता जागता उदाहरण। दूसरी ओर, नर-पिशाच, मणिरथ की दुर्भावनाएं हैं, जिसने अपने भाई की पत्नी पर, ऐसी बुरी दृष्टि दौड़ाई है। पाठक, तब के और अब के, भ्रातृ-भाव को तराजू के पलड़ों पर तौल कर देखें। और, तब, मणिरथ-जैसे नराधम व्यक्तियों के हृदयों को परखें।

समय-समय पर, मणिरथ, अपने भाई को, किसी-न-किसी कार्य के वहाने, किसी दूर देश को भेज देता; और पीछे से, मेणरया के लिए, वहुमूल्य कपड़े, तथा भांति-भांति की स्वादिष्ट मिठाइयां, और अन्य पदार्थ भेजता रहता। मेणरया का स्वभाव अत्यन्त सरल, और उस के भाव वड़े ही शुद्ध तथा ऊंचे थे। अपने वालकपन ही से उस की रुचि धर्म की ओर थी। वह सदैव धर्म-शास्त्रों का पठन-पाठन करती रहती; और समय पाकर, अनेकों आदर्श सतियों के जीवन-चरित्रों को पढ़ा करती थी। यही कारण था, कि वह परम सदाचारिणी और पति-भक्ति-परायणा वनी हुई थी। वह, अपने पति से वड़ी उम्रवालों को पिता के समान, वरावर वालों को भाई के समान, और छोटों को पुत्र के समान मानती थी। अपने इस नियम से, वह अपने ज्येष्ठ को भी ससुर और पिता ही के समान पूजनीय समझती रही। और उन के द्वारा भेजी हुई वस्तुओं को प्रेम और आदर-पूर्वक रखती रही। परन्तु मनुष्य, सर्वत्र अपनी भावनाओं ही की छाया देखा करता है। इस न्याय से, मणिरथ ने, इन सव वातों का कुछ और ही अर्थ लिया। उसने समझा, जब मेणरया, मेरे द्वारा भेजी हुई वस्तुओं को प्रेम-पूर्वक रख लेती है, तो उस का दिल भी, अवश्य ही मेरी ओर झुक गया होगा। इस में अव कोई सन्देह नहीं।

यह सोच-विचार कर, एक दिन, अवसर पा, उस ने अपनी एक कुलटा दासी के द्वारा, अपने मनोगत भावों को उसके पास कहला भेजा। दासी ने आकर मेणरया से कहा, "वाईजी! आप को महाराज, हृदय से चाहते हैं। यही कारण है, कि समय-समय पर, आपके पास भांति-भांति के वस्त्राभूषण और अनेक प्रकार के मेवे तथा मिठाईयां भेज कर,

उन्होंने अपने प्रगाढ़ प्रेम का परिचय आपको दिया है। आप भी, उन सभी को, सदा-सर्वदा, बड़े ही आदर तथा प्रेम से स्वीकार करती रही हैं। इससे जान पड़ता है, कि आप भी; अन्त करण से, उन्हे चाहती हैं। वे, ऐसे किसी अवसर की टोह ही में थे, जब आप अपने उस गुप्त प्रेम-बन्धन को, उन पर नि सकोच रूप से प्रकट कर सकें। आज वह शुभ अवसर अनायास ही हाथ लग गया है। अच्छा है, कि आप इस सुवर्ण-योग का सदुपयोग करलें। और, अपने जीवन, तथा जन्म को जल्दी से-जल्दी सफल करें।"

दासी के इस कथन को सुन कर, मेणरया के तन में बिजली-सी दौड़ गई। उस अबला ने अपना सबल रूप धारण कर लिया। और महाकाली के रूप में कड़क कर बोली, "अरी, कुलटा! अपनी जबान को अब बन्द कर! और जितना भी जल्दी हो सके, यहा से भाग निकल, अन्यथा, तेरे प्राणों की खैर नहीं! यदि, इस प्रकार की और भी कोई बात, तू ने अब अपने मुँह से निकाली, कि तेरी जबान पकड़वा कर खींच ली जावेगी, और तेरी बोटी-बोटी निकलवादी जावेगी!"

मेणरया के इन वचनों से, दासी का दिल दहल गया। उसके पैर लड़खड़ाने लगे। उसकी आखें तिलमिलाने लगीं। उसी समय, उलटे पैरों वह लौट पड़ी, और हापते कापते, मणिरथ के पास आकर, अथ से इति तक, सारा हाल उसे कह सुनाया। मणिरथ तो कामान्ध था ही। उसने, दासी के उस कथन का भी, अपने मनोनुकुल ही मतलब निकाला। वह समझा, युगबाहु के जीते-जी, मेणरया, मेरे साथ, प्रेम-बन्धन बाधने को, किसी भी प्रकार राजी नहीं। अत. अवसर पाकर उसने अपने भाई, युगबाहु को मार डालने का निश्चय किया।

सच है, कामातुर पुरुष को भले और बुरे का विचार तो कभी होता ही नहीं। तब कामान्ध मणिरथ की दृष्टि में, उस का भाई, युगबाहु, उसका कट्टर शत्रु दिख पड़ने लगा, तो इस में अचरज की बात ही कौन-सी थी? नीतिकारों ने क्या ही ठीक कहा है, कि—

कामातुराणां न भयं न लज्जा, क्षुधातुराणां न बलं न तेजः।
तृष्णातुराणां न सुहृन्न बन्धुः, चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा॥

अर्थात् जो मनुष्य कामान्ध होते हैं, उन्हें किसी भी प्रकार का कोई डर और लाज नहीं होती। भूख से पीड़ित मनुष्यों में बल और तेजस्विता नहीं होती। लालची मनुष्य, अपने मित्र और बन्धु-बान्धवों के भी प्राण-हरण करने पर उतारू हो जाता है। इसी प्रकार, जो मनुष्य चिन्ता से ग्रसित होता है, वह न तो कभी पूरी नींद ही सो सकता है; और न किसी सुख का उपभोग ही वह कर पाता है।

कवि के इसी कथन के अनुसार, मणिरथ भी भोगों में अन्धा बनकर, अपने सहोदर भाई तक के प्राण लेने पर उतारू हो गया। ऐसे भ्रातृ-प्रेम पर सौ-सौ बार धिक्कार!

एक दिन मणिरथ ने अवसर देखा; और अपने भाई, युगबाहु को, किसी देश पर विजय पाने के लिए, एक छोटी-सी सेना देकर, इस उद्देश से भेज दिया, कि वह वहीं युद्ध-भूमि में खेत रहे। परन्तु युगबाहु, एक अति ही वीर योद्धा और कुशल सेनापति था। सेना के छोटी होते हुए भी, सफलता ने उसी को वरण किया। विजय प्राप्त करके, कुछ ही दिनों में, वह वापिस लौट आया। और, सुदर्शन नगर के बाग़ में आ टिका। वहां से अपने बड़े भाई को, उसने सन्देश भिजवाया, कि "शत्रु-दल पर विजय प्राप्त करके, मैं सकुशल लौट आया हूं।" इस सन्देश को पाकर, मणिरथ इच्छाओं पर

पानी फिर गया। वह विचारने लगा, कि "यह तो वहा से भी बाल-बाल बचकर आ गया। अब अच्छा तो यही है, कि आज उसे गाव में आने ही न दिया जाय। और, किसी न-किसी बहाने से, उसे आज की रात वहीं ठहरा कर, रातों रात, उस की जीवन-लीला, वहीं समाप्त कर दी जाय।" यूँ, सोच-विचार कर, उसने युगबाहु को कहला भेजा, कि "आज, गाव मे आने का मुहूर्त, ठीक नहीं है। अत आज-की-रात, अपना पडाव वहीं रक्खा जाय।

मेणरया, मणिरथ के इस षड्यन्त्र को बाल-बाल ताड़ गई। मणिरथ के कार्यों का रहस्य, वह तो, आज से बहुत पहले ही जान चुकी थी। अत पति के आगमन का सन्देश पाकर, वह तुरन्त ही बाग में पहुँची, और उन्हें सब प्रकार से सजग रहने की प्रार्थना करती हुई, वह बोली, 'प्राणवल्लभ! मेरे रूप-सौन्दर्य के कारण, आपके बड़े भाई मणिरथजी, आज-कल, कई दिनों से, आप पर, बड़ी ही वक्र दृष्टि रखते हैं। इसी कारण, समय-असमय, उन्होंने आप को देश विदेशों में भेजा। और, पीछे से, मुझे हथिया लेने का, अपने बल भर प्रयत्न किया। परन्तु जब वे अपने किसी भी प्रयत्न में सफल न हुए, तब, अब की बार, आप को एक छोटी-सी सेना दे करके ही, प्रबल शत्रु का सामना करने को भेजा। उनके इन सब कार्यों का, एक ही गुप्त रहस्य है, कि येन केन-प्रकार से, कहीं-न-कहीं, आप की जीवन-लीला की समाप्ति हो जाय। और, तब वे अनायास ही मुझे हथिया कर, अपनी चिर-कालीन भोग वासनाओं की तृप्ति करें। यही क्यों? आज भी, जो सन्देश आप को यहीं ठहर रहने का मिला है, उसका भी गूढ रहस्य यही है। और कुछ नहीं। अत. आप सब प्रकार से सचेत और सन्नद्ध रहें। आप की अभी की जरा सी

ग़फ़लत से, मामला कुछ-का-कुछ हो जावेगा। और, मेरे भाग्य के बने-बनाये नक्शे का सारा रंग ही पलटा खा जावेगा।"

मेणरया की इस प्रार्थना के उत्तर में, युगबाहु ने कहा, "प्रिये! नहीं! नहीं!! ऐसा कभी हो नहीं सकता!!! तुम भ्रम में हो। मेरे पूज्य भ्राताजी के सम्बन्ध में, तुम्हारे ऐसे विचार? ओह! सच है, नारियों को नीतिकारों ने, जो अबलाएँ कहा है, वह तिल-तिल यथार्थ है। उसी कद्र, उन में, बुद्धि-बल की भी कमी रहती है। प्राण-प्रिये! मेरे भाई साहब सब प्रकार से योग्य और धर्म-परायण हैं। यह, तुम्हारी समझ ही की भूल है, कि तुम उन्हें उलटा समझ बैठी हो।"

अभी तो, मेणरया और युगबाहु का, यह संवाद हो ही रहा था, कि इतने ही में, नंगी तलवार हाथ में लिए हुए, मणिरथ, युगबाहु के तम्बू में घुस आया। मेणरया ने अपने पति-देव को, सब प्रकार से सजग बने रहने की, एक बार फिर से प्रार्थना की; और शीघ्र ही अन्तःपुर में पैठ गई। उधर, अपने ज्येष्ठ भ्राता को, वहां आया देख, युगबाहु, उसका स्वागत करने के लिए, विनय-पूर्वक आगे आया। उस के पास जाकर, उसे प्रणाम करने के लिए, ज्यों ही युगबाहु ने अपनी गर्दन झुकाई, कि इतने ही में मणिरथ ने, अपने सम्पूर्ण बल से, एक हाथ, अपनी तलवार का, उस की गर्दन पर चला ही दिया; और चट वहां से चल पड़ा। तलवार के अचानक वार से, घायल हो कर गिरने के पूर्व, युगबाहु ने एक बड़ी ही करुणा-भरी चीख़ भरी। उस की उस आवाज़ को सुनते ही, मेणरया, अन्दर से लपक आई। वहां आते ही उस ने देखा, कि पति-देव, अन्तिम श्वांसे ले रहे हैं। और, इनी-गिनी घड़ियों ही में, उस के भाग्य का नक़शा पलटा खा

रहा है। इतना देख चुकने पर भी, उस ने अपनी वीरता का परिचय देही दिया। क्यों कि, वह एक वीर बाला और धर्म-परायण नारी थी। उस समय, अपने हृदय पर पत्थर रख कर, पति-देव के सिर को, अपनी गोदी मे उठा लिया, और नव-कार मन्त्र का सुनाना पारम्भ किया। साथ मे वह अपने हृदयेश्वर को यह भी कहती गई, कि "यहा, कोई किसी का सगी-साथी नही। आप तो केवल इसी पवित्र मन्त्र के भाव की ओर अपना सारा ध्यान लगाये रखिये। हृदय में, बारम्बार, एक मात्र इसी मन्त्र का जाप आप करते रहिये। उस मरणा-सन्न अवस्था में भी, उस ने अपनी प्रेयसी के कथन का पूरा-पूरा पालन किया। उस समय, उस ने अपनी बची-बचाई सारी शक्ति, एक मात्र, उसी मन्त्र की ओर लगाये रक्खी। जिस का फल यह हुआ, कि युगबाहु, वहा से मृत्यु पाकर, स्वर्ग में जा, देव बना। जब युगबाहु के प्राण पखेरू उड़ गये, तब मेणरया ने सोचा, कि "अब यदि महलों मे मैं चली गई तो मणिरथ मेरे सतीत्व को नष्ट-भ्रष्ट किये विना, कभी न रहेगा। क्यों कि, वह वर्षा से इस बात का प्रयत्न कर रहा है। और, जब वह कामान्ध, अपने सहोदर भाई तक का न हुआ, तो मेरा तो वह हो भी कैसे सकेगा। वहा जाने पर, अब स्वप्न में भी मेरे सत्य और शील व्रत की खैर नहीं। अत अपने सत्य और शील की रक्षा के लिए, मुझे किसी सघन वन की ओर चल देना चाहिए।" अपने इस निश्चय के अनु-सार, मेणरया, एक सघन और बीयावान जगल की ओर चल दी।

मणिरथ की दुर्भावनाओं के फूल, आज पूरे खिल गये। अपने भाई का प्राण हरण करके, घोड़े को नचाते-कुदाते, और आनन्द की अठखेलिया खेलते हुए, ज्यों ही अपने महलों की

ओर, सरपट जा रहा था, मार्ग में, एक स्थल पर, उसके घोड़े का खुर, एक सांप की पूँछ पर पड़ गया। बस. उसी समय, लेने के देने पड़ गये। सांप ने उछल कर, मणिरथ को जोरों से डँस लिया। उसी क्षण, वह मर गया, और घोड़े की पीठ पर से वहीं गिर पड़ा। वह मर कर, सीधा, परमाधामी नारकीय देवों के हाथों में जा पड़ा। वहां, हजारों वर्ष तक, अनेकों प्रकार के असह्य कष्टों को, वह भोगता रहा। तथा अपने कुत्सित कर्तव्यों पर, पश्चात्ताप प्रकट करता रहा। किन्तु—"का वर्षा पुनि कृषी सुखाने; समय चूक पुनि का पछिताने।" इस न्याय से अब होने वाला भी क्या था। अपने कृत कर्मों का भोग भोगना तो अवश्यम्भावी था ही। अस्तु।

उधर, सती मेणरया, गर्भवती थी। उसके प्रसव का समय अति निकट था। भय, शोक और राह की थकावट के सन्निपात के कारण, मार्ग में चलते-ही-चलते, उसकी कोख से, एक पुत्र का प्रसव हो गया। उस नव जात बालक को, पड़ौस के एक शिला-खण्ड पर लिटा कर, निकट वाले एक जलाशय में, वह अपने शरीर को स्वच्छ करने के लिए चली गई। विपत्ति, कभी अकेली नहीं आती। उसी समय, एक विद्याधर वायु-यान में बैठ कर वहां आ निकला। उसकी दृष्टि मेणरया पर पड़ी। वह उसके रूप-सौन्दर्य पर छक गया। उस ने उसी समय उसे अपने विमान में चढ़ा लो; और चलता बना। सती मेणरया के पास रोने-चिल्लाने के सिवाय और था ही क्या? वह खूब ही रोई और चिल्लाई। अपने नव-जात शिशु को उठा लाने की प्रार्थना की। अनेकों प्रकार से हा हा खाई। पर उसके सब प्रयत्न बेकार हुए। विद्याधर ने, उसकी एक न सुनी। तब,—

मेणरया—आप, जा किधर रहे हैं ?

विद्याधर—मेरे परिणामों में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है। मैं जा तो रहा था, धर्म-घोष मुनि के दर्शन को; परन्तु बीच ही में, तुम दीख पड़ी। इसलिए, वह काम अब बन्द रहा।

मेणरया—ऐसा तो कभी न करो। और तो तुम ने जो किया, सो सब ठीक ही है, परन्तु मुनि के दर्शन से दूर तो कभी न रहना चाहिए।

मेणरया की बात, विद्याधर के जी में घर कर गई। उसने तत्काल ही अपने विमान का मुँह, मुनि के स्थान की ओर मोड़ दिया। और, थोड़ी ही दर में, वहा आ पहुँचा। वहा, मुनि के पावन दर्शन, चरण वन्दन, और सदुपदेशों की त्रिवेणी में स्नान करने पर तो, उसकी सारी दुर्भावनाएं एक-दम बदल गई। उसके मन का मैल, सब का-सब, न जाने कहा निकल भागा। सच है, "सत-संगति-महिमा नहिं गोई।" और "पारस परसि कुधातु सुहाई।" पारस को छू कर, लोहा-जैसी कुधातु तक सोना बन जाती। तब तो, अपने हृदय की दुर्बलता के कारण, जो दुर्भावनाएं उसके दिल में पैदा हो आई थी, उसके लिए, वह बार-बार पश्चात्ताप प्रकट करने लगा। और, मेणरया को वहीं छोड़ कर, अपने स्थान की ओर चला गया। मेणरया, नारियों के बीच में बैठ कर, तत्त्व-चिन्तन करने लगी। देवी मेणरया! तुम धन्य हो! तुम जैसी सतियों ही के पुण्य प्रभाव से, कठोरतम कष्ट सहिष्णुता से, हमारे आरत-भारत का मुख, आज भी उज्ज्वल बना हुआ है। धर्म-प्राण महासती! यह तुम्हारी ही सद्बुद्धि की उपज थी, कि जिससे पाप पक में फँसे हुए, एक मदोन्मत्त विद्याधर को, सहज ही में, तुम, उसे, कुछ ही क्षणों के बाद, सुपथ पर ले आई।

और, उसके भावी जीवन को, सदा के लिए सचेत तुमने कर दिया।

उधर, जिस वन में, मेणरथा का वह नव-जात शिशु एक नंगे शिला-खंड पर लेटे-लेटे, अपने पैर के अंगूठे को मुँह में दबाये, क्रीड़ा कर रहा था, उसी वन में, मिथिलापति पद्मरथ, वायु-सेवन के लिए, उधर, उस समय आ निकला। वहां आकर, ज्योंही उसने उस परम सुन्दर नव-जात-शिशु को देखा, उसका हृदय-कमल खिल गया। स्नेह-भरे नेत्रों से उसने उस कुमार को वहां से उठा लिया, और अपने साथ, अपने अन्तःपुर को, उसे ले चला। वह राजा, सन्तान-हीन था। अतः सन्तति की चाह और उसके प्रति अटूट प्रेम, उसके हृदय में बड़े ही जोरों से उमड़ रहे थे। उसने उसी कुमार को अपना पुत्र माना; और रानी को ला सौंपा। रानी का हृदय भी उसे देखकर बांसों उछल पड़ा। बड़े ही प्रेम और सावधानी के साथ, वह उसका लालन-पालन करने लगी। यह बालक, वास्तव में, एक बड़े ही वीर-माता-पिता की सन्तान था। अतः था बड़ा ही भाग्यशाली। जब से उसका प्रवेश, पद्मरथ के महलों में हुआ, उसी दिन से राज्य की श्री-वृद्धि होने लगी। कई राजा, पद्मरथ के अधीन हो गये। और उसके दरबार में आ-आ कर, उसे नमन करने लगे। तब तो, उसी दिन से, इस बालक का नाम भी 'नमिराज' रक्खा गया। उस बालक की उम्र जैसे-जैसे बढ़ती गई, उसी प्रकार, उसका रूप-सौन्दर्य, सद्गुण और सदाचरण भी, उसके शरीर में विकास पाते गये। यौवन की सन्धि में आने पर, अनेकों अनुपम रूप-गुणवती एवं विदुषी कन्याओं के साथ, उसका विवाह हुआ। समय पर, राजकुमार, नमिराज की शिक्षा-दीक्षा का भी समुचित प्रबन्ध हुआ था। राजनीति, धर्म-नीति,

व्यापार नीति, तथा व्यवहार-नीति, सभी प्रकार की शिक्षा, उसे भली भाति दी गई थी। कुछ ही काल के पश्चात्, जब नमिराज सब प्रकार से योग्य और समर्थ हो गया, पद्मरथ ने अपने सम्पूर्ण राज्य की बागडोर, उसके हाथों सौंप, दीक्षा धारण कर ली, और अखण्ड आत्म-चिन्तवन करने मे वह लग पड़ा। उधर, सुदर्शन नगर में, उन्हीं दिनों, मेणरया का बड़ा पुत्र, सूर्ययश राज्य कर रहा था।

एक दिन, मेणरया ने, मुनिराज धर्म-घोषजी से, प्रार्थना करते हुए पूछा, "प्रभु! मेरे नव-जात पुत्र का क्या हुआ?" मुनिराज, पारदर्शी थे। भूत, वर्तमान, और भविष्य, तीनो कालों की बातो को वे भली भाति जानते थे। वे अपने समय के, बड़े ही पहुँचे हुए मुनिराजो में से एक थे। कुछेक क्षण ठहर कर, वे बोले, "आर्याजी! तनिक भी चिन्ता न करो! तुम्हारा वह पुत्र, मिथिला-नरेश, पद्मरथ के यहा बड़े ही आनन्द में है।" यह बात-चीत अभी हो भी न पाई थी, कि इतने ही में, वहा एक देव आ उपस्थित हुआ। आते ही, सब-से पहले, उसने मेणरया को, और तब धर्म-घोष मुनि को नमन किया। यह उलटी बात देख कर, उस समय, वहा जो व्यक्ति बैठे हुए थे, उन में से किसी एक व्यक्ति ने मुनिराज से पूछा, "प्रभु! यह क्या बात हुई? देव ने, प्रथम, मेणरया को, और उस के पश्चात् आप को नमन क्यों किया? इस के उत्तर में ऋषि-राज ने यू कहा, "भाइयो! यह देव, अपने पूर्व जन्म में, इसी मेणरया का, इस जन्म का पति था, और यह मेणरया, इस की धर्म पत्नी। मरते समय, अपने पति-देव को, परम पावन नवकार महामन्त्र सुनाकर, इस मेणरयाने, इसे बड़ा भारी सहारा दिया था। उसी महा मन्त्र के, उस समय के श्रवण मात्र के प्रबल प्रताप से, इसे, यह देव योनि

प्राप्त हुई है। बस. उसी परम उपकार से उपकृत हो कर, इस ने प्रथम मेणरया को नमन किया। अपने उपकारी का उपकार मानते रहना, यह भी तो धर्म का एक बड़ा भारी अंग है। और ऐसा ही इस देव ने भी किया। अतः यह और भी धन्यवाद का पात्र है। इस के विपरीत, जो लोग, अपने प्रति उपकार करनेवालों के उपकारों को भूल जाते हैं, वे महान् कृतघ्न हैं। और, कृतघ्नता, महान् पाप है। इसी लिए तो नीतिकार ने क्या ही सुन्दर कहा है।

" एकाक्षरं प्रदातारं, यो गुरुं नाभि वन्दते।
श्वान-योनि शतं भक्त्वा, चांडालेश्व भिजायते॥ "

अर्थात् एक अक्षर मात्र का ज्ञान देनेवाले तक को, अपना गुरु न मान कर, जो व्यक्ति, उस के उपकारों को नगण्य समझता है, वह, पूरे-पूरे सौ वार कुत्ते की योनि में जन्म ले कर, तत्पश्चात् ,वह चांडाल के कुल में जा कर जन्म-धारण करता है।

एक हिन्दी कवि तो इस से भी एक-दो क़दम आगे वढ़ गया है। देखिये !

" सात द्वीप, नव खंड अरु; मन्दर, मेरु पहार।
शेषहिं इतो न भार है; जितो कृतघ्नी-भार॥ "

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, कि मेणरया, विद्याधर को सन्मार्ग पर लगाती हुई, भी धर्म घोप मुनि की सेवा में रत रह कर तत्त्व-चिंतन करने लगी। अव तो, उसने वहीं, सातियों के निकट, दीक्षा-धर्म को धारण कर लिया। फिर तो, वह इधर-उधर विचरने भी लगी। और, धर्मोपदेश करती हुई भूली-भटकी जनता को सन्मार्ग पर लगाने लगी।

एक वार, नरेश नमिराज और सूर्य यश, दोनों में किसी कारण मनो मालिन्य हो गया। तव, तो दोनों ओर से, युद्ध

की खूब ही तैयारिया हो गई, और दोनों पक्षों की सेनाएं, रणस्थल मे आ डटी। हमारी महासती मेणरया ने भी, इस सवाद को सुना। उस ने अपनी पूज्यपाद गुराणी से, रणस्थल में जा कर, दोनों को, समझा बुझा देने की आज्ञा मागी। और, तब वहा से विचरण करते हुए, वह नमिराज के निकट आई। उसे देखते ही, सैनिकों ने कहा, 'महासतीजी! आप का तत्त्व ज्ञान यहा किसी को लगने वाला नहीं। यहा तो रण-क्षेत्र है। हा, रणचातुरी का कोई गूढ ज्ञान आप बतावें, तो वह अवश्य कारगर हो सकता है।" उसी समय नमिराज भी वहा आया, और बोला, "महासती जी! आप के पावन पदों में मेरा बार-बार नमस्कार! किन्तु इस समरागण में, आप का क्या काम? अत आप यहा से, शीघ्र ही पधार जाय। देखिये, यह बिना माता वाला, सूर्य यश, बिना सोचे-समझे, मुझ से लड़ने को आगे बढा आ रहा है। यदि मै इसे युद्ध मे नीचा न दिखाऊँ तो मेरा नाम 'नमिराज' क्या! इसकी माता, न जाने, कितने ही समय से, किधर को भाग निकली! यह पस्त हिम्मत और टूटे दिल का व्यक्ति, मुझ से लोहा लेने में समर्थ हो ही कैसे सकता है।"

इस पर सती मेणरया, यूँ बोली, 'नमिराज! हाथ का छूटा, प्रयत्न करने पर मिल सकता है, परन्तु जबान का छूटा, लाख-लाख प्रयत्न करने पर भी मिल नहीं सकता। अतएव, सोच-समझ कर बोल बोलो। सूर्ययश और नमिराज, पृथक-पृथक माताओं के पुत्र नहीं। दोनों, एक ही पिता-माता की सन्तानें है। दोनों की माता, यह सती, आप के सामने ही खड़ी है।" इसके पश्चात्, मेणरया ने, थोड़े में, अथ से इति तक अपना सारा वर्णन कह सुनाया। उसे सुनते ही, नमिराज

के हाथों से अस्त्र, अवनि पर, लुटक पड़े। और, उसकी आंखों से, प्रेम की अश्रु-धारा वह चली। वही नमिराज. जो कुछेक क्षण पहले, सूर्ययश के खून का प्यासा बन रहा था, अब तो उसी से मिलने-भेंटने के लिए लालायित हो उठा। युद्ध-भूमि और युद्ध का, अब तो सारा नक्शा ही, एक-दम बदल गया। हथियारों की होने वाली कटाकट की ध्वनि. हँसी के कहकहों में बदल गई। और, मार-काटने शांति का जामा पहन लिया। युद्ध के बाजे, जो मुर्दा-दिलों में स्फूर्ति का संचार करके, कायर-से-कायर सैनिक तक को, आन-की-आन में, समर-भूमि में खेत रहने के लिए, जवां-मर्द बना रहे थे, अब मंगल-ध्वनि करने लगे। इस अचांचक परिवर्तन को देख-देख कर, सभी लोग दांतों तले अँगुली दबाने लगे।

सती मेणरया ने नमिराज से कहा, "बेटा ज़रा ठहर जा। पहले मुझे सूर्ययश के पास हो आने दे। तब तू उससे मिल। तदनुसार, नमिराज वहीं ठहरा; और मेणरया सूर्ययश की सेना के अन्दर पहुंची। सूर्ययश की सेना के लोगों ने और कुछेक क्षण के बाद आये हुए सूर्ययश ने भी, उस महासती से वैसे-ही-वैसे प्रश्न किये, जैसे कि नमिराज के सैनिकों तथा नमिराज ने पहले उससे किये थे। फिर, सूर्ययश ने कहा, "महासती! नमिराज अनधिकार चेष्टा कर रहा है। उसकी माता का लोगों को कुछ पता तक नहीं। पद्मराज, इसे लावारिस की भांति जंगल से उठा लाया था, और राज्य का अधिकारी इसे बना गया है। 'प्यादे से फ़र्जी भयो, टेढ़ो-टेढ़ो जाय।' अब तो, अधिकार मद का नशा और चढ़ गया। फिर, यह पैर न छोड़े, तो करे ही क्या! मुझ-जैसे क्षत्रिय का सामना करने चला है। परन्तु मेरी सजी-सजाई सेना और मेरे द्वारा, ऐसी बुरा तरह से मुह की खावेगा, कि इसे और

इस की सेना को, हमारे एक ही वार मे, सात भवन के तारे नजर आजावेंगे।" महा सती मेणरया ने सूर्ययश को भी उसी प्रकार से अपना पूर्व परिचय दिया, जिस तरह उसने नमिराज को दिया था। उसे सुनते ही, सूर्ययश के विचारों और हृदय में आनन्द और अचरज का एक ज्वारभाटा सा आ गया। वह बोला, "माता! क्या, यह मामला है? तब, दो भाइयों के बीच युद्ध कैसा? अनजाने जो भी कुछ हुआ, उसे आप क्षमा कीजिये। अब तो दोनों दलो की भयकर मुठभेड़ के बदले, कुछ ही क्षणो में, आप, राम और भरत का मिलाप देखेगी।"

महासती ने नमिराज की ओर मुँह मुड़ाया। तब तो दोनों ओर की सेना तथा प्रधान आगे बढे। युद्ध के लिए नहीं, वरन् प्रेम-पूर्वक सहयोग के लिए। दोनों भाइयों का वह सम्मिलन, सचमुच में, राम और भरत का सम्मिलन था। महासती के पुण्य-भाव से, बात की-बात में, चारों ओर, सुविचार, शांति और सुख की एक अपूर्व धारा सी बह निकली। जिसके कारण, वहा के सम्पूर्ण पाप और ताप, दुख और दर्द तथा अविचार और अनाचार, पलक-मारते मे, वह चले। सूर्ययश राजा ने तो, अपने अधिकार-मद से, यहा तक हाथ खींच लिया, कि अपना सारा का-सारा राज्य तक, अपने छोटे भाई, नमिराज को सौंप दिया। और आत्मोद्धार, तथा लोक-रंजन के लिए, उसने दीक्षा धारण कर ली।

नमिराज, अब, एक बड़े भारी राज्य का स्वामी बन गया। एक दिन, दाह-ज्वर ने उसे सताया। इधर-उधर के अनेकों प्रकार के औषधोपचार होने लगे। उसकी सभी स्त्रियों ने, एक ही स्थान पर बैठकर, उसके शरीर पर, चर्चन करने के लिए, चन्दन घिसना शुरू किया। उस समय, पड़ोस ही लेटे हुए,

दाह-ज्वर-पीड़ित नमिराज को, उन राज-रानियों की चूड़ियों की एक साथ ही होने वाली खनखनाहट ने, और भी अशान्त बना दिया। उस अशांति को एक-दम दूर कर देने के लिए, राजाज्ञा की घोषणा हुई। राज-रानियों ने अपने सौभाग्य-सूचक चिह्न के रूप में, केवल एक-ही-एक चूड़ी अपने हाथ में रख कर, शेष सभी चूड़ियों को, उन्होंने वहीं उतार फेंका। जिससे खनखनाहट भी एक दम बन्द हो गई। राजा ने अपने दरबारियों से इसका कारण पूछा। दरबारियों ने, जो असली कारण था, कह सुनाया। उसे सुनते ही, नमिराज ने उसका यह मतलब निकाला, कि "संसार के जितने भी दुख और दर्द, संकट और सन्ताप, पाप और ताप हैं यहां तक कि जीवन मरण भी, सब के, एक-मात्र द्वन्द्वता ही कारण हैं; और आये दिनों होते रहते हैं। अतएव, द्वन्द्वता-मात्र दुख की मूल है। इसके विपरीत, एक-एक चूड़ियों के समान, एकाकी भाव ही में, वास्तविक सुख, शान्ति और श्रेय का निवास है।" इस भावना का चिन्तवन करते-ही-करते, नमिराज की दाह-ज्वर-जनित-पीड़ा का समूल-रूप से शमन हो गया। फिर तो, इस एकाकी भाव की भावना, उसके दिल में और भी अधिक ज़ोर मारने लगी। जिसके परिणाम-स्वरूप, कुछ ही काल में, उसने अपने विस्तृत राज्य का सारा भार अपने पुत्र को सौंप कर, दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा के समय, इन्द्र ने, अनेकों भांति से उनके हृदय को कसौटी पर कसा। उसने अनेकों प्रयत्न ऐसे किये, जिससे नमिराज अपने पथ से विचलित हो जाय। परन्तु अन्त में, विजय नमिराज ही की हुई। नमिराज, अपने निश्चय पर, हिमालय पर्वत के समान, अचल रहा। इन्द्र ने मुंह की खाई। और, नतमस्तक होकर, अपने स्थान को लौट गया। पाठक, यदि इस विषय की विशेष जानकारी प्राप्त करना

चाहें, तो वे श्रीमदुत्तराध्ययनजी सूत्र को पढ़ें।

नीतिकारों का कथन है, कि राजाओं को, अपने राज्य के पालन-पोषण, रक्षण, और समुन्नति के हित, सदा-सर्वदा महत्त्वाकांक्षाएं रखनी चाहिए। और, राजनीति का यथोचित पालन करते हुए, लोक-रंजन के बल से, शान्ति-पूर्वक, रक्त की एक बूंद भी बिना बहाये, अधिक-से-अधिक, अपने राज्य की सीमा को विस्तृत करते रहने के लिए सदैव प्रयत्नशील बने रहना चाहिए। दीक्षा धारण करके, नमिराजजी ने भी वैसा ही किया। उन्होंने, तप, संयम शील और सत्य का चतुर्मुखी बल प्राप्त करके, कर्मों से घन-घोर युद्ध ठान दिया। और, एक-दिन, चारों घन-घातिक कर्मों को, समूल, हरा कर, कैवल्य-ज्ञान-रूपी राज लक्ष्मी को प्राप्त की। बल से ही बल की भी वृद्धि होती है। इस न्याय से, उन्होंने, अपने सभी कर्मों का एकान्त नाश करके, मोक्ष को प्राप्त किया।

यह, महासती मेणरया ही की शक्ति थी, जिससे दो विरोधिनी शक्तियां परस्पर जूझ मरने के बदले, मिल कर एक हो गई। और, चिरकाल के लिए सम्मिन्न बन कर, एक दूसरे की समुन्नति में, पूरा-पूरा सहयोग देती रहीं। यही नहीं, उसी की महान् और अमोघ शक्ति ने, नमिराज को सन्मार्ग दिखाया; और उसे मोक्ष धाम का परवाना दिखाया। यूँ अनेकों उपकार उसके द्वारा हुए। अन्त में, अपना भी चिरन्तन कल्याण उस ने कर लिया। देवि ! आज का संसार भी, उसी प्रकार पारस्परिक खून का प्यासा बना हुआ है। चारों ओर कलह और युद्ध की धूंआधार अग्नि जोर पकड़ती जा रही है ! आये दिनों, लाखों मानवों के देव-दुर्लभ जीवन, बात-की बात में, उस अग्नि में पड़ कर, मटियामेट हो रहे हैं ! मा ! एक बार, यहां फिर से पधारकर, आज के इस अबोध और मदोन्मत्त संसार

को, चिरशांति का पाठ तो ज़रा पढ़ा जाओ !

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] मणिरथ, युगबाहु, सूर्ययश, नमिराज, और पद्मराज पर टिप्पणियां लिखो।

[२] तब और अब के भाइयों में क्या अन्तर है ? समझाओ।

[३] अपने सत्य और शील की रक्षा के हित, मेणरया को किन-किन विपत्तियों का सामाना करना पड़ा ? और, उन विपत्तियों का अन्तिम परिणाम, क्या हुआ ?

[४] 'कामा तुराणां न भयं न लज्जा।' कवि की इस उक्ति को मणिरथ के चरित्र पर, घटा कार दिखाओ।

[५] 'कलियुग नहीं, करयुग है यह, इस हाथ दे, उस हाथ ले।' किसि कवि का यह कथन, मणिरथ के लिए, कहां तक ठीक लागू हो सकता है।

[६] कथा में आये हुए मुहाविरों और कहावतों को छांटों; और उन के अर्थ बताओ।

[७] संसार के साथ, जो-जो उपकार, मेणरया ने किये, उन के एक-दो उदाहरण दो।

२१ सोमा



गभग ढाई हजार वर्ष पहले, हस्तिनापुर मे महाराज भू-भागी नामक राजा का राज्य था। उसी नगर मे, सोमदत्त नामक एक बड़ा ही दीन हीन ब्राह्मण भी रहता था। उसी ब्राह्मण की पत्नी का नाम सोमिला और पुत्री, सोमा थी। अपने बालक पन ही से, यह बालिका, बड़ी ही सुशीला और सदा चारिणी थी। शरीर भी इस का सुन्दर और सुडौल था। हम अभी कह आये हैं, कि उस ब्रह्मण की आर्थिक अवस्था, बड़ी ही शोचनीय थी। फिर भी, किसी प्रकार के छल-कपट और अन्याय के द्वारा, धनोपार्जित कर के धनी बन ने में तो, वह अपने सदाचार और धर्म की तौहीन समझता था। न्याय-पूर्वक कमा कर, सुबह लाना और साझ को खाना, उसे बड़ा ही प्यारा था।

एक, दिन, सो मिला को जोरों का ज्वर चढ़ आया। और, उस की भयकर पीड़ासे, एक ही दिन में, वह चट पट भी हो गई। अब बालिका, सोमा का पालन पोषण और रक्षण करना, उसके लिए हिमालय पर्वत की उतराई और चढाई के समान दूभर हो गया। इसी चिन्ता के मारे, उस की नींद उड़ गई, उस का भोजन छूट गया। और, उस के ध्रुव धैर्य का बाध टूट गया। पतझड़ के पश्चात् बसन्त का आगमन अवश्य होता ही है। उस दीन हीन ब्राह्मण के लिए भी यही बात हुई।

उस के पुण्योदय से, एक दिन, उसे एक सच्चे मुनि मिल गये। उन्हों ने उसे उपदेश दिया, कि भाई ! संसार में जितनी भी पौद्गलिक वस्तुएं हैं, वे सभी नाशवान हैं। तो, जो वस्तुएं अन्तवन्त हैं, उन के मिलने पर हर्ष क्या ? और, उन के वियोग में विषाद क्या ? वास्तविक पंडित तो वही है, जो सभी दशाओं में, सम भाव रख कर, जगत् में व्यवहार करता है। इस के विपरीत, व्यर्थ ही की चिन्ता या शोक करते बैठने से, अनेकों प्रकार के कर्मों की पोट सिर पर बंधती है। और, वेही कर्म, जन्म मरण के कारण होते हैं। तुम्हारे जिन कर्मों से, इस देह की रचना हुई है, उन कर्मों के फल-भोग तो, तुम्हें अवश्यमेव भोगनाही पड़ेंगे। चाहे रोओ, या चिल्लाओ। हंस के भोगोगे, तो तुम; और रो कर के भोगेगे, तो तुम। अतः छोड़-छाड़ दो इस व्यर्थ की चिन्ता को। और, धर्म-संग्रह करने में, तन, मन, और धन से जुट पड़ो। धर्म ही, इस लोक और परलोक का सच्चा साथी है। मुनिराज के इस पावन उपदेश का, ब्राह्मण के चित्त पर बड़ा ही चोखा और गहरा असर पड़ा। उसी दिन से, वह धर्म-संग्रह करने में अपनी सारी शक्ति से जुट पड़ा।

शास्त्र और सन्त लोग कहते हैं, कि धर्माचरण करते रहने से आत्मा की उन्नति और ऐहिक सुखों की प्राप्ति, एक-न एक दिन, अवश्यमेव होती है। सोमदत्त के लिए भी यही बात हुई। नित्य नियम-पूर्वक पौषध-शाला में आते-जाते रहने और धर्माचरण करते रहने से, एक, उसी नगर के, एक महान् गुप्त दानी सेठ गुणपाल की नज़र, सोमदत्त पर पड़ गई। सेठ, उसके सदाचार, स्वधर्म-पालन और सादगी पर रीझ गया। तब तो, "प्रकृति मिले, मन मिलत है।" इस न्याय-नियम से, सेठ की, कुछ ही दिनों में, सोमदत्त के साथ,

प्रगाढ मित्रता हो गई। हम ऊपर बता आये हैं, कि वह सेठ बड़ा भारी गुप्त दानी था। तब तो, वह तन, क्या मन, और क्या धन, सभी प्रकार से सोमदत्त की सहायता करने-कराने लगा। सोमदत्त भी, ऐसे उदार, गुप्तदानी और स्वधर्मी मित्र को पाकर, फूले अंग न समाता था।

शास्त्रों में गुप्त दान का महान् पुण्य बताया गया है। यदि तीसरे किसी व्यक्ति ने उस दान की बात को जान ली, तो वह दान, दान ही क्या है! किसी ने उस दान की प्रशंसा कर ली, और उस प्रशंसा से दाता, यदि फूल कर कुप्पा बन गया, अथवा उस प्रशंसा का कोई असर पड़ गया, तो उस दान का बहुत ही कम फल, उसके पल्ले रह पाता है। परन्तु आज के अधिकांश दान, प्राय नाम ही के लिए दिये जाते हैं। वास्तविक काम के लिए तो कभी नहीं। आत्मिक भावों का व्यापकता, पारस्परिक सहानुमति, और एकता की अभिवृद्धि, जो दान के मुख्य और जीते जागते फल हैं, ये चाहे हों या न हों, आज का कीर्ति लोलुप-संसार, इस बात की राई-रत्ती-भर भी पर्वाह नहीं करता। यही कारण है, कि आज के दान से, आत्मिक शान्ति भी, तब मिल ही कैसे सकती है! आज तो हम खास कर के इसीलिए देते हैं, कि हमारी सरकार, हमें 'रायबहादुर' की पदवी से विभूषित कर दे। हम 'दानवीर' और 'सरनाइट' बन जावें। अथवा, आज हमारे दान का बहुत बड़ा भाग, किसी युद्ध की अग्नि को भड़काने के लिए, चन्दे के रूप में जाता है। जब तक वास्तविक शिक्षा हमें नहीं मिलती, जब तक धर्माचरण को हम ढकोसला समझते रहते हैं, जब तक हमारे मन की सच्ची और स्थायी उन्नति नहीं हो जाती, जब तक हमारे बेकार और असहाय बन्धुओं को, दोनों समय, भर पेट भोजन कमाने के साधन जुट नहीं पड़ते, तब तक दान की

कुत्सित कर्मों से, ज़रा भी नहीं हिचकिचाते। हमारी चरित-नायिका सोमा, जो रूप-सौन्दर्य और गुण की खदान थी, यदि कहीं, भाग्यवश, इन कलियुगी सेठों के अधिकार में आ गई होती, तो उस के सत्य और शील की रक्षा, कहां तक हुई होती, हम नहीं कह सकते !

माताओ, बहिनो और बन्धुओ ! गुणपाल का जैसा नाम था, वैसा ही वह सद्‌गुणी भी था। सदाचार और सद्‌गुण, उस में कूट-कूट कर भरे पड़े थे। अब वह, सोमा के लिए, किसी वय, रूप और गुणशील तथा स्व-धर्मी बन्धु वर की खोज में था। इस बात का पता, किसी ब्राह्मण के लड़के, रुद्र-दत्त को लगा। तब तो, कपट-क्रिया-द्वारा, स्व-धर्मी बन्धु का वेश बना कर, वह सोमा को प्राप्त करने के प्रयत्न में जुट पड़ा। लोगों की नजरों में, वह, धर्म-ध्यान में खूब ही दिलचस्पी लेते हुए दिख पड़ने लगा। गुणपाल ने भी, एक दिन, उसे देखा। लोगों से, उसके सम्बन्ध में, जहां तक पता लग सकता था, पूछ-ताछ उसने की। तब तो, सोमा के लिए, वह, उसे भी सौ टंची सोना जान पड़ा।

अवसर पा कर, गुणपालने, एक दिन, रुद्रदत्त को अपने यहां बुलाया और पूछा, "तुम कौन हो ? कहां के निवासी हो ? किस के पुत्र हो ? तुम्हारे माता-पिता करते क्या हैं" उत्तर में,—"मैं सोम-भट्ट शर्मा का पुत्र, रुद्रदत्त हूं। मेरे माता-पिता का तो, आज से बहुत पहले ही स्वर्ग-वास हो चुका है। रहने वाला तो बाहर का हूं; परन्तु कई वर्षों से रहता यहीं हूं। मेरी शिक्षा भी यहीं हुई है। पूर्व जन्मों के पुण्योदय से, यदा-कदा, सन्त-समागम और शास्त्रध्ययन कर के, जैन-धर्म से परिचय प्राप्त किया है। जब से, इस धर्म की शरण ली है, महान् सुख और शान्ति का अनुभव कर रहा

हू। चार तीर्थों की सेवा कर के, कृत कृत्य होता हूं।"—रुद्रदत्त ने कहा। सेठ ने कहा, "तुम्हारा काम सराहनीय है। मेरे घर पर, मेरे एक स्वर्गीय ब्राह्मण-मित्र की पुत्री है, जो बड़ी ही शीलवती, रूपवान, और गुणनिधान है। मैं चाहता हूं, कि उस का पाणि ग्रहण, मैं तुम्हारे साथ कर दूं।" इस पर, रुद्रदत्त ने अपनी अरुचि प्रकट करते हुए, सेठ को टके-सा जवाब दिया, कि विवाह कर के, मैं, अपने-आप को बन्धन मे फसाना, और अपने जीवन को शास्त्राध्ययन और सन्त-समागम से वंचित रखना, तो कदापि नहीं चाहता।" रुद्रदत्त की इस रुखाई ने तो सेठ का मन और भी पिघला दिया।

आख़िर कार, रुद्रदत्त की ये सब चाल बाजियां तो थीं ही। उस का मन तो, महीनों से सोमा के लिए लार टपका रहा था था। समय पाकर, रुद्रदत्त ने, सेठ की बातों को सिर-से पैर तक मान लिया। बेचारे सेठ ने भी, अपने तथा लड़की के भाग्य को सराहते हुए, शुभ समय को देख कर, विधि-विधान के साथ, सोमा का हाथ उसे पकड़ा दिया। सेठ की ओर से, दहेज भी रुद्रदत्त को खूब ही मिला। रुद्रदत्त, अपनी कपट-साधना में सफल हुआ।

अभी विवाह होने ही पाया था, कि रुद्रदत्त ने, अपने सारे धर्म को जो केवल पोथियों के पन्नों के रुप में था, बटोर कर, घर के किसी ताक मे रख दिया। आखिर कार, बनावट तो वह थी ही। टिकती भी वह कब तक? ये सब बातें तो, केवल सोमा को पा जाने की साधना ही के लिए थीं। उस साधना के पूरते ही, वे सब-की-सब बातें, गरद्दे के सींग की भांति, न जाने कहा छूमतर हो गईं। रुद्रदत्त तो बड़ा ही जुआरी और वेश्यागामी था। वह, भीतर-ही-भीतर, वासुमिया नामक एक वेश्या की लड़की, कामलता पर मोहित हो रहा

था। और, अपनी आमदनी का अधिकांश भाग, वह उसी की खाहिरदारी में खर्च भी करता रहता था। तब तो स्वाभाविक बात थी, कि रुद्रदत्त के घर में सोमा का स्थायी रूप से आ-जाना, कामलता के लिए कंटक रूप हो गया। ये सब बातें, सरल-हृदया और शीलवती सोमा के सामने, कुछ ही दिनों के बाद ही, ज्यों-की त्यों आ गईं। तब, सोमा के सरल हृदय में, एक भयंकर भूकम्प-सा धक्का लगा। वह बार-बार अपने भाग्य को कोसने लगी। धर्म-प्राण भारत की नारियों का जीवन-सर्वस्व, एक-मात्र उन का पतिही होता है। परन्तु जब उन्हीं की ओर से, उदासीनता और कपट-पूर्ण व्यवहार का परिचय उन्हें मिलता है, उन का जीवन दूभर और ऊबड़-खाबड़ बन जाता है। अपने पति की बेहूदा हरक़तों से, सोमा के शान्त हृदय में, बड़ा ही उथल-पुथल मचगया।

समय पाकर, एक दिन, सोमा, सेठ गुणपाल के पास आई; और अपने भाग्य की सारी राम-कहानी, ज्यूं-की-त्यूं कह सुनाई। अपनी पोष्य पुत्री, सोमा के उस कथन से, सेठ के हृदय को भी एक बड़ी ठेस-सी लगी। उसी समय, उसने सोमा से कहा, "बेटी! मैंने तो अपनी जान में खूब ही छान-बीन की थी। यदि रुद्र दत्त के इस निन्दनीय स्वभाव का विवाह के कुछ पहले तक भी, मुझे कोई पता लग पाता, मैं भूल कर भी, तुम्हारे भाग्य को उसके हाथ न बेचता। ख़ैर! तुम्हारे दिल में, धर्म के प्रति प्रगाढ़ स्नेह है; तथा, सत्य, शील, और संयम का पास, तुमने अपने बालकपन ही से पढ़ा है। अतः तुम्हारा जीवन तो मेरा दृढ़ निश्चय है, कभी दुखी हो नहीं सकता। बेटी! दुखी होने, और मन को मैला करने की तो, कोई बात ही नहीं। मेरी तिज़ोरी का मुँह, तेरे लिए खुला हुआ है, और मेरे [illegible] आगे भी, सदा, [illegible] हेगा। ले

इस धन को, और दिल खोल खोल कर उलीच दोनों हाथों से, दान-पुण्य के पथ में। शक्ति तथा समय के रहते-रहते, चार तीर्थों की सेवा में लग कर, धर्म-ध्यान में, अपने-बल-भर जुट पड़! और, अपने जीवन तथा जन्म को सफल कर। " सेठ के इस प्रकार के आश्वासन और उदारता के कामों से, सोमा के टूटे हुए दिल को, बड़ा भारी सहारा मिल गया। और, नगर के सभी पुरुषों ने सेठ की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

एक दिन, वसुमित्रा वैश्या ने भी सोमा के रूप लावण्य को कहीं देख लिया। तब तो, चिन्ता के मारे, उसका चित्त, चलनी-चलनी हो गया। उसने अपने सिर पर हाथ रख कर, मन-ही-मन कहा, "सोमा के रूप लावण्य के आगे, कामलता की रूप गुण तो, पासग के बराबर भी नहीं। यदि रुद्रदत्त का मन, कहीं एक बार इस सोमा के मन के साथ खिंच गया, तो कामलता का जीवन, उसी क्षण, कंटक-पूर्ण हो जावेगा। अत कोई ऐसी चाल चलनी चाहिए, जिससे सोमा के जीवन की तो, सदा के लिए समाप्ति हो जाय और कामलता के लिए रुद्रदत्त के दिल में, चौगुना चाव बढ़ जावे।" अपने इस निश्चय के अनुसार, एक दिन, एक भयंकर काले साप को, किसी घड़े में भर कर, फूलों सुन्दर माला के मिस, सोमा के हाथों, उसे साप दिया। सरल हृदया सोमा ने, नवकार महा-मन्त्र का जप करके, घड़े का मुंह खोल, उस में अपना हाथ डाला। ससार में, मनुष्य अपने ही भावों की छाया सर्वत्र देखता है। सोमा के हृदय में कोई कपट था ही नहीं। वैश्या के कहने से, उस घड़े में, उसने हार ही समझा था। अपने इस निश्चय के अनुसार, हार ही उसे मिला भी। सोमा ने घड़े में हाथ डाल कर, अठारह लड़ियों का एक बड़ा ही बहु-मूल्य और सुन्दर हार बाहर निकाला। सोमा के सरल व्यव-

हार और पुण्योदय के कारण, वही भयंकर सांप, उस हार में बदल गया। वह वैश्या भी, अभी तक वहीं खड़ी थी। कामलता भी उसके आई हुई थी। इस अनहोनी घटना से, उन दोनों को बड़ा ही अचरज हुआ। सोमा उस हार को लेकर करती भी क्या? उसका सदाचार ही, उसके लिए, अटूट सम्पत्ति था। फिर, सेठ गुणपाल की तिज़ौरी का मुँह भी, उसके लिए खुला हुआ सदा के लिए था ही। अतः उस हार को अपने हाथ में लेकर, उसने पास में खड़ी हुई. कामलता ही के गले में डाल दिया। परन्तु उसके गले में पड़ते ही, वह हार, पुनः उसी भयंकर सांप के रूप में बदल गया; और उसी समय, उसने कामलता का काम तमाम कर दिया। कामलता, धड़ाम से धरती पर गिर पड़ी। यह देख, उसकी माता, वसुमित्रा, जैसी खड़ी थी, वैसी-की-वैसी, दौड़ती हुई राजा के पास फर्यादू बन कर पहुँची। उसने सोमा को बतलाया, कि "सोमा, एक डाकिनी है। सांप का रूप धारण करके, उसने मेरी पुत्री को डँस लिया है। अब, संसार में, मैं बिलकुल निराधारिणी रह गई हूं। ऐसे भयंकर काम के लिए, उस दुष्टा को समुचित दण्ड मिलना चाहिए।" कुटिल लोहे के साथ से, बेचारी अग्नि को भी, घन की चोटें सहनी पड़ती हैं। असन्तों की संगति का ऐसा ही फल होता है। सोमा को भी, कुछेक क्षणों के लिए, वसुमित्रा के साथ रहने का अवसर मिला था। उसी पाप के परिणाम स्वरूप उसके सिर भी कलंक का यह काला टीका लगाया गया।

वसुमित्रा की फ़र्याद को सुनकर राजा बड़ा ही आगबबूला हो उठा। उसने उसी समय सोमा को पकड़वा मंगवाया। उसकी जांच की गई। सोमा ने अपनी सफ़ाई में कहा,—"नरनाथ! मैं दया-धर्म का पालन करने वाली, इन कार्यों को

जानू ही क्या ? मनुष्य तो इस ससार का सर्वोत्कृष्ट प्राणी है। उसे मार डालना, तो अभी बहुत परे की बात रही, मेरा तो एक रोम भी, चींटी तक को मारने के लिए कभी राजी नहीं होता। इसका रहस्य तो कुछ और ही है। वसुमित्रा, अपनी पुत्री के साथ, स्वय चल कर मेरे घर पर आई। साथ में, एक घड़ा यह लाई। उसमें एक भयकर साप रक्खा हुआ था। मुझे, इसकी ओर से, बतलाया गया, कि एक बड़ा ही सुन्दर हार उसमें मेरे लिए है। मैंने महान् पावन नवकार मत्र का जप करते हुए उसे बाहर निकाल लिया। उसी भव-भय-नाशक मत्र के प्रभाव से, उस समय, वह साप, सचमुच में, एक बड़ा ही मोलवान् और सुन्दर हार के रूप में बदल गया। मैंने लेकर, उसे, पास में खड़ी हुई कामलता के गले में डाल दिया। ठगा किसी का सगा नहीं। इस न्याय से, वह हार फिर साप के रूप में बदल गया। और देखते ही-देखते, कामलता का काम उसने तमाम कर दिया। इसमें, मेरा दोष ही क्या ? मेरा, इसके साथ कोई रिश्ता भी नहीं। तब उसके उस हार को, मैं, अकारण ही ग्रहण भी कैसे कर लेती ?"

राजा ने पंडितों को बुला कर, इस बात की पूरी-पूरी छान-बीन करवाई। अन्त में, सोमा, बाल बाल निर्दोष पाई गई। तब तो, वेश्या का सिर मन्दा हो गया। उसने सोमा से क्षमा-याचना की। सोमा के दिल में दया तो कूट-कूट कर भरी हुई थी ही। पास में पड़ी हुई कामलता की ओर, वीर-स्तुति करते हुए, उसने अपना पाव बढ़ाया। अचानक, उस के पर का स्पर्श, कामलता के शरीर से हो गया। उस के पर का स्पर्श होते ही, कामलता, सजीव हो कर उठ खड़ी हुई। तब तो पड़ोस के मानवी दर्शकों और अन्तरिक्ष के सभी देवताओं ने मिलकर, सोमा के सत्य और शील की प्रशसा में, गगन भेदी

जय-घोष किया। राजा भी इस अभूत-पूर्व घटना को अपनी आंखों के सामने होती हुई देख कर, बड़ा ही विस्मित हो उठा। उस ने भी अब जान पाया, कि यह सारा षड्यन्त्र, वैश्या ही की ओर से था। तब तो, उस के क्रोध की सीमा न रही। वह, वैश्या को कठोर दंड देने-ही वाला था, कि इतने ही में, आगे बढ़ कर, उसने स्वयं अपने अपराध को स्वीकार कर लिया, और क्षमा चाही। सोमा के इस आदर्श काम का असर, दर्शकों के दिल पर इतना गहरा पड़ा, कि उन्हों ने, उसी दिन से, जैन-धर्म को धारण कर लिया।

अब तो सोमा, नगर के नारी-समाज में, एक आदर्श नारी समझी जाने लगी। उस के शील और सत्य का प्रत्यक्ष प्रमाण देख कर, कितनी ही कुलटा नारियां, सत्पथ पर लग गईं। कितने ही दुखी परिवार सदा के लिए सुखी बन गये। कितने पापाचारी पुरुष, सदाचारी बन गये। आये दिनों, संसार का परित्याग कर, सोमा ने साध्वी का रूप धारण किया। और, दीर्घ-काल तक ज्ञान-ध्यान में रत रह कर, आत्मोन्नति के साथ-साथ, लोक-कल्याण वह करती रही। अन्त में, अपने सत्कार्यों, शील और संयम तथा धर्माचरण के प्रबल प्रताप से, वह, सदा के लिए, उस परम धाम में जा विराजी, जहां से लौट कर, फिर जीवन-मरण के चक्कर में नहीं आना पड़ता।

अभ्यास के लिए प्रश्नः—

[१] सोमदत्त को उस की चिन्ता के नाश का जो उपाय मुनि ने बताया उसे थोड़े में कहो।

[२] धर्माचरण करते रहने से, आत्मा की उन्नति, और ऐहिक सुखों की प्राप्ति कैसे हो सकती है? सोमदत्त के चरित्र पर, इस कथन की सचाई को प्रकट करो।